रवीन्द्र-साहित्य

सोलहवाँ भाग

धन्यकुमार जैन

रवीन्द्र-साहित्य

सोलहवाँ भाग

अनुवादक

धन्यकुमार जैन

•

पद्यानुवादक

श्यामसुन्दर खत्री

हिन्दी-ग्रन्थागार

पी-१५, कलाकार स्ट्रीट

बड़ाबाजार : कलकत्ता - ७

हिन्दी - हिन्दुस्थानीमें
विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरका
सम्पूर्ण साहित्य एकसाथ एक जगह
मिल सके इस उद्देश्यसे यह
ग्रन्थमाला प्रकाशित की जा रही है
आशा है
सुरुचि-सम्पन्न पाठक-पाठिकाएँ
और विद्यालय महाविद्यालय और
पुस्तकालय इसे अवश्य अपनायेंगे
और
जितना अधिक और जितनी जल्दी
अपनायेंगे
उतना ही इसका अनुवाद और
प्रकाशन-कार्य सुन्दरता और
शीघ्रतासे आगे बढ़ता जायगा

—धन्यकुमार जैन

गान्धारीका आवेदन

दुर्योधन— पदोंमें प्रणाम, तात !

धृतराष्ट्र— बता, अरे दुष्टाशय,

हो गया अभीष्ट सिद्ध ?

दुर्योधन— प्राप्त मुझे हुई जय ।

धृतराष्ट्र— अब तो तू सुखी हुआ ?

दुर्योधन— मैंने है विजय पाई ।

धृतराष्ट्र— जीतके अखण्ड राज्य सुख हुआ, शान्ति आई ?
बोल रे दुर्मति ?

दुर्योधन— सुख चाहिए न, महाराज,
चाहता हूं जय । चाही जय, विजयी हूँ आज ।
तृप्त क्षुद्र सुखसे क्या क्षत्रियोंकी होती क्षुधा,
कुरुपति, – ज्वालामयी अग्निमें ढली है सुधा
जय-रस, घोर ईर्षा - सागर - मन्थनजात, –
वही जय-रस पिया, – सुखी मैं नहीं हूँ, तात,
आज विजयी हूँ । पिता, सुखी तो मैं रहा तब,
पाण्डवों - कौरवोंसे मैं एक-सा था बद्ध जब,
रहता कलंक लगा जैसे चन्द्रमाके हिये
कर्महीन गर्वहीन दीप्तिहीन सुख लिये ।
सुखी था मैं, पार्थके गाण्डीवकी टंकारपर
शकाकुल शत्रुदल आता न था द्वारपर ।
सुखी था मैं, पाण्डवोंके विजयसे दृप्त कर
दोहन धराका कर भ्रातृप्रीति अनुसर
निज अंश देते रहे ; सानन्द कौतुक-युक्त
नित्य नये सुख भोगा करता मैं चिन्तामुक्त ।

सुखी था मै, पाण्डवोकी जय-ध्वनि घोरतम
कौरवोंके कान जब बेधती थी कुन्त-सम ;
पाण्डवोके सुयशका बिम्ब - प्रतिबिम्ब आता,
उज्ज्वल अंगुलिसे प्रकाशपूर्ण बना जाता
मलिन कौरव-कक्ष। सुखी था मै, पिता, तब
पाण्डवोंके गौरवके स्निग्ध छाया - तले जब
स्वीय तेज दाब मै था शान्तचित्त कर्महीन,
भेक जैसे कूपमें हेमन्तमे हो जड दीन।
आज पराभूत पाण्डुपुत्र हुए वनगामी, —
आज मै नही हूँ सुखी, और न हूँ सुखकामी,
आज मै हूँ जयी।

धृतराष्ट्र— धिक धिक तेरा भ्रातृद्रोह !
पाण्डवोंके कौरवोके एक पितामह, ओह,
भूल गया क्या तू यह ?

दुर्योधन— यही तो मै भूला नही,—
एक पितामह, तो भी धन मान तेज कही
किसीमे भी एक नही ! होता नही मुझे क्लेश,
होते जो वे दूरके पराये। करता न द्वेष
सूर्यसे मध्याह्नके विभावरीका शशधर,
किन्तु प्रात काल प्राची - उदय - शिखरपर
नही उगते है एकसाथ रवि शशि कभी।
दूर हो गया है आज वह द्वन्द्वभाव सभी,
आज मै अकेला हुआ, आज मै हो गया जयी।

धृतराष्ट्र— ईर्षा तो है क्षुद्र हेय, सर्पिणी है विषमयी !

दुर्योधन— क्षुद्र नही, हेय नहीं, ईर्षा शक्ति महती है,
ईर्षा है बडोका धर्म। दो वृक्षोंमें रहती है
कोई दूरी, कोई आड, — किन्तु तृण लक्ष-लक्ष

रहते एकत्र मिल वक्षसे सटाके वक्ष।
रहते असंख्य तारे भ्रातृभावमें हो लीन;
सूर्य एक ही है, चन्द्र एक ही है। दीन हीन
मलिन-किरण पाण्डु - चन्द्रलेखा अस्तंगत
आज दूर वन - अन्तरालमें। अप्रतिहत
आज मैं अकेला कुरुकुल-सूर्य सुप्रथित,
आज मैं हूँ जयी।

धृतराष्ट्र— आज धर्म पराजित।

दुर्योधन— लोक-धर्म राज-धर्म एक नहीं। जनगण
रहते समाजमें समुद समकक्ष बन
परस्पर सुहृद - सहाय रूप निर्भर हो।
किन्तु राजा एकेश्वर, समकक्ष उसका तो
महाशत्रु, चिरविघ्न, दुश्चिन्ताका क्रूर ठौर,
सामनेका अन्तराल, पीछेका आतंक और
अहर्निश यश - शक्ति - गौरवका क्षयकारी,
वैभव - अंशापहारी। बान्धवोंकी शक्ति सारी
आपसमें बाँटकर होते बली क्षुद्रजन;
खण्ड जितने ही राजदण्डके जायेंगे बन,
वह उतना ही क्षीण, उतना ही होगा क्षय।
यदि राजा सर्वोपरि गौरवित गर्वमय
रख न सकेगा निज मस्तकको ऊँचा कर,
यदि दूर - दूरसे अनेकानेक नारी - नर
राजाका उन्नत स्थिर सबल निर्विघ्न शिर
देख न सकेंगे नित्य, उसकी बताओ फिर
शासनकी दृष्टि कैसे दूर - दूर फैलकर
डालेगी प्रकाश वह - जन - समुदायपर ?
नहीं राज - धर्ममें है भ्रातृधर्म बन्धु - धर्म,

राज - धर्म जानता है जयको ही धर्म - कर्म।
अतः आज हुआ मै कृतार्थ, आज मैं हूँ जयी,
महाराज ! आड़ आज सामनेकी हट गयी,
पाण्डव - गौरव - गिरि ढहा पंच - चूड़ामय।

धृतराष्ट्र— छलसे जुएमें जीता, कहता इसीको जय ?
रे निर्लज्ज अहंकारी !

दुर्योधन— जिसका जो बल, वही
उसका है अस्त्र, रण-सम्बल प्रबल वही।
बाघके समान नख - दाँतमें न कोई नर,
इसीसे धनुष-बाण द्वारा उसे वध कर
लज्जित क्या होता कोई ? बुद्धि गवाँ, मूढ़ बन,
मृत्यु-मुखमें ही कूद, कर देना आत्मार्पण,—
नाम इसका न युद्ध। युद्धका तो लक्ष्य जय।
आज मै जयी हूँ, पिता, इसीसे हूँ गर्वमय।

धृतराष्ट्र— आज तू जयी है, इसीलिए तेरी निन्दा घोर
परिपूर्ण कर रही अम्बर - धराके छोर
अत्युच्च धिक्कारोंसे ही।

दुर्योधन— निन्दा ! मै डरूँगा नही,
निन्दाका मै इन्ही हाथों गला घोंट दूँगा यहीं।
मथुरापुरीके मुँहपर ताला जड़ दूँगा,
स्पर्धामयी जीभको मै पैरोंसे रगड़ दूँगा।
'दुर्योधन पापी नीच', 'दुर्योधन क्रूरमना',—
अब तक सुनता आया हूँ यही मौन बना ;
राजदण्ड स्पर्श कर कहता हूँ, महाराज,
छोटे-बड़े सबोंसे ही कहला मै लूँगा आज,
'दुर्योधन राजा। सहनेका नहीं दुर्योधन

राज - निन्दा - आलोचना, उसका सुनाम - धन
उसके ही अधिकृत ।'

धृतराष्ट्र— वत्स, सुन ध्यान धर,
निन्दा लोल रसनासे निर्वासित होनेपर
अधोमुखी होके उर-तममें उतर जाती,
जटिल अङ्गोंको दूर-दूर वहाँ विकसाती,
सदा विष - तिक्त किये रहती है चित्ततल।
जिह्वापर नृत्य कर होती श्रान्त हीनबल
चपल चंचल निन्दा। दीजो मत उसे नित
छिपे - छिपे निज शक्ति वृद्धि करनेके हित
उर-रूपी गुप्त दुर्ग। शान्त उसे कीजियो तू
प्रीति-मन्त्रबलसे ही। बन्दी बना लीजियो तू
निन्दा-सर्पिणीको वंशी-ध्वनिसे विमुग्ध कर।

दुर्योधन— निन्दा हो अव्यक्त, राज-मर्यादाकी तिल-भर
हानि नहीं। भ्रूक्षेप न करता हूँ उस ओर।
प्रीति न हो, दुःख नहीं; किन्तु है असह्य घोर
मुझे स्पर्धा, महाराज! प्रीतिदान स्वेच्छाधीन;
प्रीति-भिक्षा दिया करते हैं दीनोंसे भी दीन;
प्रीतिको वे बाँटा करें पालतू बिलाइयोंको,
द्वारके कुत्तोंको और पाण्डवों-से भाइयोंको;
मुझे चाहिए न प्रीति, मैं तो चाहता हूँ भय,
वही मेरा राज-प्राप्य। और चाहता हूँ जय
दर्पितोंका दर्प दल देनेवाली। आवेदन
मेरा यही, पिता, अब तक तव सिंहासन
नित्य ही तो घेरे रहे मेरे निन्दाकारी नीच
कण्टक - विटपतरु निष्ठुर प्राचीर खींच
मेरे औ' तुम्हारे बीच रच एक व्यवधान :

तुम्हे वे सुनाते रहे पाण्डवोंका गुण-गान
और हमारी ही निन्दा। इसी भाँति, पिता, नित
पितृस्नेहसे ही हमलोग रहे निर्वासित।
यों ही हम शैशवसे हो रहे हैं घोरतर
हीनबल; पितृस्नेह-स्रोतके ही मुँहपर
शिला अड़ी, बाधा पड़ी, हुए हम अतिक्षीण,
शीर्ण औ' संकीर्ण नद, नष्टप्राण, गतिहीन,
रुद्ध पद-पदपर। अक्षत-अबाध-गति
पाण्डव हो गये स्फीत! आजसे, हे महामति,
सिंहासन-पार्श्वसे जो उन निन्दाकारियोंको,
संजय विदुर भीष्म धर्म-ध्वजाधारियोंको
दूर नही कर दोगे, यदि बन विज्ञ ज्ञानी
हित-वार्ता, धर्म-कथा, साधु-उपदेश-वाणी,
तर्क, निन्दा, धिक्कारोंसे निमिष-निमिषपर
राजकर्म-डोरको वे सदा छिन्न-भिन्न कर
करते रहेंगे मेरा राजदण्ड भाराक्रान्त,
रहेंगे बनाते राज-सत्ता द्विधा-पूर्ण भ्रान्त,
लाज अपमानसे मुकुटको मलीन नित
करेंगे, तो पिता, मुझे क्षमा करो, अभीप्सित
नही मुझे सिंहासन कण्टक-शयन। आज
विनिमय कर लूँ मै पाण्डवोंसे, महाराज,
राज्य देके वनवास, वनमें जा डालूँ डेरा।

धृतराष्ट्र— हाय, मेरे रूठे पुत्र, यदि पितृस्नेह मेरा
सुनके कठोर निन्दा सुहृदोंकी ह्रास पाता
कुछ, तो कल्याण होता। मै अधर्मसे ही नाता
जोड, ज्ञान गवॉं बैठा, — मेरा इतना है स्नेह!
करता हूँ सर्वनाश तेरा, — इतना है स्नेह!

गान्धारीका आवेदन : काव्य

पुरातन कुरुवंश - महावनमें प्रकाण्ड
रच रहा हूँ मै घोर - महाकालानल - काण्ड,
तो भी तू देता है दोष, स्नेह नही तुझपर !
मणि - लोभवश तूने माँगा काल - विषधर,
पकड़के फन निज हाथों उसे तुझे दिया
अन्धे होके । अन्धी मेरी आँखें, अन्धा मेरा हिया
सर्वदासे । प्रलय-तिमिर ओर लेके तुझे
चला हूँ मै , बन्धु हाहा खाके रोक रहे मुझे,
अशुभ चीत्कार कर रहे गृध्र निशिचर,
मार्ग होता जा रहा संकीर्ण पद-पदपर,
विपदा आसन्न देख देह मेरी कण्टकित
हो रही है, चित्त मेरा हो रहा है शंकावृत,
तो भी भयंकर स्नेहवश दृढ़ हाथों धर
तुझे छातीसे ही चिपकाये हुआ कसकर,
वायुका ले वल, वेग नदीका ले क्षिप्रगति,
उल्का - आलोकित पथपर महामूढमति
मत्त-सा हो करता - हुआ समोद अट्टहास,
दौड पडा हूँ मै सर्वनाशका होनेको ग्रास ।
तू है और मै हूँ, और एक बस साथमें हैं
अन्तर्यामी, दीप्तिमय वज्र लिये हाथमे हैं ।
सम्मुखकी दृष्टि न पश्चातका निवारण है,
बस नीचे दारुण निपातका आकर्षण है ।
चेतना उठेगी चौक एक दिन अकस्मात,
विधिका अचूक होगा शीशपर गदा-पात ।
आयेगा समय वह, तव तक स्नेहपर
मेरे न सन्दिग्ध हो, न आलिंगन ढीला कर,
तव तक लूट ले तू दोनों हाथों स्वार्थ-धन ;

जयी हो, आनन्द कर, एकेश्वर राजा बन।
अरे, तुमलोग बाजे जयके बजाओ अब!
विजय-ध्वजाएँ ऊँचे नभमें उड़ाओ सब।
आजके जयोत्सवमें न्याय धर्म बन्धु भाई
कोई भी रहेगा नहीं। रहेंगे न भीष्म न्यायी,
संजय विदुर नहीं। रहेगी न लोक-लाज,
लोक-निन्दा भीति भी न, और न रहेगी आज
कुरुवंश-राजलक्ष्मी। केवल रहेंगे चार,—
अन्ध पिता, उसका ही अन्ध सुत निर्विचार,
और कालान्तक यम, — पितृस्नेह अहम्मन्य,
और विधाताका शाप; बस ये ही, नहीं अन्य।

[चरका प्रवेश]

चर— महाराज, विप्रगण त्याग देव-आराधना,
तजकर अग्निहोत्र, छोड़कर संध्यार्चना,
खड़े हैं चौराहोंपर, करते प्रतीक्षा वहीं
पाण्डवोंकी। आज घरोंमें हैं पौरजन नहीं।
पण्यशालाएँ हैं बन्द। संध्या हो गई है, पर
भैरवके मन्दिरमें बजे नहीं ध्वनिकर
घंटा शंख संध्याभेरी, दीप भी हैं नहीं जले।
शोकातुर नारी-नर दलके हैं दल चले
पुर-सिंहद्वार ओर। सजल-नयन सभी,
सभी दीन वेशमें हैं। [चरका प्रस्थान

दुर्योधन— उन्हें नहीं ज्ञात अभी,
जाग उठा दुर्योधन। भाग्यहीन मूढ़ो, अहो,
दुर्दिन तुम्हारे घनीभूत हो आये हैं। रहो,
राजा औ' प्रजामें आज हो जायेगा परिचय

कठिन कठोरतम। देखता हूँ, स्पर्धामय
कब तक रहता है प्रजाका विद्रोहपन,
विष-हीन सर्पका विफल फण - आस्फालन,
बलहीन अस्त्रहीन दर्पका हुंकार-रव !

[प्रतिहारीका प्रवेश]

प्रतिहारी— प्रभु, रानी गान्धारी हैं दर्शनप्रार्थिनी तव !
धृतराष्ट्र— उनकी प्रतीक्षामें हूँ।

[प्रतिहारीका प्रस्थान

दुर्योधन— पिता, तो मैं चलूँ अब।

[दुर्योधनका प्रस्थान

धृतराष्ट्र— भाग जा तू, अरे पुण्यभीत ! हाय, किस ढब
सहन करेगा साध्वी माताका तू दृष्टि-बाण !
मेरे ही निकट तुझे लज्जाका न होता ध्यान !

[गान्धारीका प्रवेश]

गान्धारी— चरणोंमें आवेदन मेरा कुछ; स्वीकृत हो
मेरी विनती, हे नाथ !
धृतराष्ट्र— रही क्या अपूरित हो
विनय प्रियाकी! कभी ?
गान्धारी— त्याग करो इस बार
धृतराष्ट्र— किसे, रानी ?
गान्धारी— धर्मकी कृपाणपर तीक्ष्ण धार
चढ़ रही, पापमय जिसका संघर्ष लह,
उस मूढ़मतिको ही।
धृतराष्ट्र— कौन वह ? कहाँ वह ?
नाम ही बता दो, बस ?

गान्धारी— नाम ? पुत्र दुर्योधन ।
धृतराष्ट्र— उसीका मै करूं त्याग ?
गान्धारी— यही मेरा आवेदन
तव चरणोंमें, नाथ !
धृतराष्ट्र— विनती गान्धारी, तव
दारुण है, राजमाता !
गान्धारी— केवल क्या, हे कौरव,
मेरी प्रार्थना है यह ? करते हैं अहरह
यही तो प्रार्थना कुरुकुल - पितृ-पितामह
स्वर्गसे, हे नरनाथ ! त्यागो त्यागो उसे, अहो,
जिसके असह्य अत्याचारोंसे ही दु खित हो
कौरव - कल्याण-लक्ष्मी, हाय, कर अश्रुपात
विदाके हैं गिन रही क्षण पल दिन-रात ।
धृतराष्ट्र— जिसने किया है धर्म-उल्लंघन, धर्म स्वत
दण्ड देगा उसे , किन्तु देखो, मै हूँ पिता, अत –
गान्धारी— तो क्या मै हूँ माता नही ? गर्भ-भार-जर्जर हो
जाग्रत हृत्पिण्डमें क्या उसे नही ढोया, अहो ?
स्नेह - विगलित मेरा उर स्तन - संचारित
शुभ्र दुग्धधारसे क्या हुआ नही उच्छ्वसित
निष्कलंक शिशु-मुख उसका निहारकर ?
जैसे कोई फल लगा रहता है डालपर,
वैसे मुझे नन्हीं-नन्ही बाहोंसे जकड़कर
चिपका क्या रहा नही स्नेहमय उरपर ?
क्या न रहा वर्षो वह खींचता-हुआ अमोल
हँसी मेरी हँसीसे ही, मेरी बोलीसे ही बोल,
मेरे प्राणोंसे ही प्राण ? तो भी कहती हूँ आज,
त्यागो उसी पुत्र दुर्योधनको, हे महाराज !

धृतराष्ट्र— त्याग दूँ उसे तो रह जायगा क्या ?

गान्धारी— धर्म तब ।

धृतराष्ट्र— क्या दे देगा धर्म तुम्हें ?

गान्धारी— दु खभोग नित्य नव ।

पुत्र-सुख राज्य-सुख बाजीमें अधर्मकी जो
जीते गये, उन्हे कब तक रख सकते हो,
दो-दो काँटे छातीसे लगाये हुए ?

धृतराष्ट्र— हाय, प्रिये,

धर्मवश लौटा ही दिया था मैने इसीलिए
द्यूतबद्ध पाण्डवोंका हारा हुआ राज्य-धन।
उसी क्षण पितृस्नेह - गुञ्जनकी भन - भन
भरने लगी यों कान—"कर क्या रहा तू, अरे!
धर्म औ' अधर्मकी दो नावोंपै जो पैर धरे
एकसाथ, उसकी कुशल कहाँ ? हुए जब
एक बार कौरव ये पाप - स्रोत - मग्न तब
मिथ्या ही है धर्मसे मिलाप करनेका स्वाँग;
पाप-द्वारपर पाप साहाय्य है रहा माँग।
मूर्ख भाग्यहीन बुड्ढे, कर क्या तू बैठा आज
दुर्बल द्विधामें पड ? फेर देनेसे भी राज
घोर - अपमान-जन्य घाव पाण्डवोंके जीका
पुर न सकेगा; काम आगमें करेगा घीका।
क्षमताका अस्त्र अपमानितोंके हाथपर
रखना है मौतको बुलाना जान-बूझकर।
छोडो मत क्षमतावानोंको देके स्वल्प पीड़ा,
उनको कुचल ही दो। पापसे न करो क्रीड़ा
व्यर्थ। यदि पापको बुला ही लाये सानुराग,
उसे अपनाओ पूरे तौरसे ही द्विधा त्याग।"

इसी विधि पाप-बुद्धि पितृस्नेह - रूप धर
कितनी ही तीखी बातें सुईसे भी तीक्ष्णतर
चुप्पे-चुप्पे कानोंमें चुभोने लगी। तिसपर
जुएवाली शर्त वन गमनकी टालकर
पाण्डवोंसे कहा मैने लौटनेको। हाय धर्म,
हाय रे प्रवृत्ति-वेग! समझेगा मेरा मर्म
जगत्में कौन?

गान्धारी— नही धर्म सम्पदाके हेतु,
महाराज, धर्म नहीं सुखका भी क्षुद्र सेतु,
धर्मका उद्देश्य धर्म। स्वामी, मै हूँ नारी मूढ,
मै क्या समझाऊँ भला तुम्हें धर्मतत्त्व गूढ,
ज्ञात तुम्हें सभी कुछ। पाण्डव जायेंगे वन,
रोकेसे रुकेंगे नही, पणबद्ध इस क्षण।
तुम्हीं अब इस महाराज्यके एकाधिपति,
हे महीप! त्याग करो पुत्रका, हे महामति!
दु ख दे निर्दोषोंको न भोग करो पूर्ण सुख,
न्याय और धर्मको न करो तुम पराङ्मुख
कौरव-प्रसादसे। हॉ, करो तुम अंगीकार
आजसे, हे धर्मराज, सुदु सह दु ख-भार,
धरो उसे मेरे सिर।

धृतराष्ट्र— सत्य, हाय, महारानी,
सत्य उपदेश तव, तीव्रतम तव वाणी।

गान्धारी— तनय अधर्मका ले मधु-लिप्त विष-फल
नाचता आनन्दसे है। स्नेह-ममतामे ढल
भोगने न देना उसे वह फल, छीन लेना,
रौंद देना, फेंक देना, पुत्रको रो लेने देना।
फेंक छल-लब्ध पाप-स्फीत राज्य धन जन

चला जाय वह भी, हो उसका भी निर्वासन,
वंचित है पाण्डव सुखोंसे, सम - दुःखभार
वह भी वहन करे।

धृतराष्ट्र— अयि मनस्विनी, यह
धर्म-विधि विधिकी है। जाग्रत है सदा वह।
धर्म - दण्ड उसका समुद्यत है पापपर।
कार्य निज राज्यका करेगा वह आप, पर
मै हूँ पिता—

गान्धारी— राजा तुम, तुम हो राजाधिराज,
विधिके हो बाएँ हाथ। धर्म-रक्षा कार्य आज
बाँटे तुम्हारे ही पड़ा। पूछती हूँ एक बात,
यदि कोई प्रजाजन पर - घर जा बलात्
खीच लाये अबला सतीको और अपमान
उसका जो करे तो तुम्हारा होगा क्या विधान ?

धृतराष्ट्र— निर्वासन।

गान्धारी— तो मै सभी नारियोंका पक्ष लेके,
राज-चरणोंमे आज आँसुओंका अर्घ्य देके,
करती हूँ न्यायकी पुकार। पुत्र दुर्योधन,
नाथ, अपराधी है। प्रमाण सुनो, हे राजन्,
इसके हो स्वयं तुम। रात-दिन स्वार्थ-हित
पुरुषोंमे झगड़े हुआ ही करते हैं नित,
फलाफल जिनका मै समझ न पाती कभी।
दण्डनीति भेदनीति कूटनीति आदि सभी
रीतियाँ हैं पुरुषोंकी। वे ही जानें फलाफल।
बलके विरुद्ध बल, छलके विरुद्ध छल
जाग जाता कैसा कुछ। कौशल होता है हत
कौशलसे। हम दूर निज गृह - कर्म - रत

रहती हैं शान्त अन्त.पुरमे। जो-कोई चल
खींच लाता बाहरके झगड़ोका द्वेपानल,
पुरुषोंको छोड़, अन्त पुरमें प्रवेश कर,
गृह-धर्म-चारिणी साहाय्य-हीन नारीपर
करता है हस्तक्षेप, उसका पवित्र तन
कलुप - परुष निज स्पर्शसे, मदान्ध बन,
करता है घोर अपमानित, – विरोध कर
पतिसे जो प्रतिशोध साधता है पत्नीपर,
पापी ही नहीं है वह नर तो है कापुरुष।
महाराज, उसका विधान क्या है? अकलुष
उच्च कुरु-वंशमें उदय यदि पाप हो तो
सह लूँगी। किन्तु, प्रभु, मातृगर्व-गर्विता हो
सोचती थी, जन्मे मेरे गर्भसे हैं पुत्र सब
सच्चे शूर, सच्चे वीर। नाथ, उस दिन जब
अनाथिनी द्रौपदीका दीन आर्तनाद सुन
कौरव - प्रासाद - भित्ति - शिलाखण्ड सकरुण
पिघल रहे थे लज्जा - घृणासे उत्तप्त होके,
दौड़ी मै, गवाक्षमें जा, हाय, देखा मैने रोके, –
खींचा जा रहा था चीर पाञ्चालीका सभा-बीच,
खडे-खडे खिलखिल हँस रहे थे वे नीच
गान्धारीके तनय – पिशाच सभी महाक्रूर,
धर्म जानता है, उसी दिन हुआ चूर-चूर
रहा-सहा माका गर्व। अहो कुरुराज-गण,
कहाँ गया भारतको त्याग पुरुषार्थ-धन?
तुम सभी महारथी बैठे मुंह ताका किये
पत्थरकी मूर्ति बने, परिहास - भाव लिये
कोई हँसता था, कोई आँखें मारता था वहीं,

कोषोंमे कृपाणें पड़ी अचल हो सोती रहीं
लुप्त वज्र-नि शेषित विद्युत्-सी। महाराज,
सुनो महाराज, मेरी विनय विनम्र आज,
दूर करो जननीकी लज्जा ग्लानि, लज्जानत
वीरताके धर्मका उद्धार करो, मर्माहत
विकल सतीत्वके दो आँसू पोंछ, अवनत
शुचि न्याय-धर्मकी प्रतिष्ठा करो, तृण-वत्
त्याग दो दुर्योधनको!

धृतराष्ट्र— पश्चात्ताप-तापसे जो
जर्जर हृदय स्वत, उसपर करती हो
चोट व्यर्थ, रानी तुम।

गान्धारी— सौ-गुनी क्या मुझे, नाथ,
होती नही वेदना है? दण्डितके किन्तु साथ
एक-सा आघात पाके जब दण्डदाता रोता
तभी, प्रभु, वह सच्चा सर्वोत्कृष्ट न्याय होता।
पाता नहीं जिसके लिए है व्यथा प्राण-मन,
उसे दण्ड देना बलवानका है उत्पीड़न।
पुत्रको जो दण्ड-पीडा देनेमें हो असमर्थ,
वह किसी-औरको न देना कभी भूल व्यर्थ।
पुत्र जो तुम्हारा नहीं, उसके क्या पिता नही?
महा-अपराधी हो'गे उसके निकट, कहीं
न्यायाधीश उसके जो होगे। सुनती हूँ यह,
विश्व-विधाताकी हम सभी हैं सन्तान, वह
नारायण पुत्रोका विचार करता है स्थिर,
अपने ही हाथों व्यथा देके व्यथा पाता फिर
साथ-साथ, अन्यथा नहीं है अधिकारी वह
न्याय करनेका कभी। मै हूँ मूढ़ नारी, यह

मेरे उर - अन्तरने एकमात्र शास्त्र - ज्ञान
लाभ किया। यदि पापी तनयको क्षमादान
निर्विचार करोगे तो, महाराज, आज तक
जो-जो दण्ड दोषियोंको दिये हैं वे यकायक
उलटके दण्ड-दाता भूपको लगेंगे आके,
न्यायका विचार तब निष्ठुरता कहलाके
पाप बन तुमको दहेगा। तुम करो त्याग
पापात्मा दुर्योधनका!

धृतराष्ट्र— रोको - रोको यह राग,
प्रिये, अब। तुड़ा नही सकता मै मोह-डोर,
धर्मकी बातें हैं देती व्यर्थ पीड़ा सुकठोर।
पापी पुत्र त्याज्य है विधाताका अकृपापात्र,
इसीलिए तज दूँ मै उसे भला? एकमात्र
उसका सहारा मै ही। कूद पड़ा है जो, हाय,
उन्मद तरंगोमे, दूँ छोड़ उसे नि:सहाय
कौन-से हृदयसे मै? मैने आशा दी है त्याग
उसके उद्धारकी, तथापि उसे सानुराग
छातीसे लगाये रखा। कूद पड़ूँ इस बार
उसके ही साथ पाप - सिन्धुमें मै निर्विचार,
अतल विनाशके ही गर्भमे जा डूब मरूँ,
उसकी दुर्मतिका मै अर्द्ध फल भोग करूँ
उसकी दुर्गतिका ही भागी बन। होगी यही
सान्त्वना यथार्थ मेरी। बेला अब नही रही
न्याय करनेकी, तथा है न प्रतिकार अब,
नहीं कोई अन्य पथ। होना था सो हुआ सब,
और जो होना है होगा।

[प्रस्थान

गान्धारी— सुस्थिर हो, सुस्थिर हो
हे अशान्त उर मेरे! सिर झुका धैर्य गहो,
विधिके ही विधानकी ही करते प्रतीक्षा रहो।
जिस दिन दीर्घ रात्रि-उपरान्त जागृत हो
करता है काल निज संशोधन, दिन वह
दारुण दुःखद होता। दु सह उत्ताप लह
ज्यों सो जाती वायु स्थिर गतिहीन होके, फिर
झंझा बन अकस्मात जागती है, और घिर
करती है आक्रमण अपने जड़त्वपर
आप वह, अन्धे बिच्छू-सी ही भीम त्रासकर
दीप्त - वज्र - शूल - सम डंक निज सिरपर
मारती है बार-बार पागल-सी बनकर,
त्यों ही जब सोतेसे है जागता कराल काल
त्रस्त होके लोग उसे कहते अकाल-काल।
उसी महाकालको, हे रमणी, प्रणाम कर;
उसीके चरणपर लोट-लोट शीश धर;
उसीकी ही रथ-चक्र-ध्वनि वज्र-घर्घरित
दूर रुद्र-लोकसे आ रही, सुन। जर्जरित
हृदय बिछा दे निज उसके ही पथपर।
निर्निमेष नयनोंसे उसकी प्रतीक्षा कर।
छिन्न सिक्त हृत्पिण्डके रक्त-शतदलकी तू
पुष्पाञ्जलि रचे रह। जाग उस पलकी तू
राह बस देख, जब धूल व्योम ढक लेगी,
धरा काँप उठेगी, विलाप-ध्वनि भर देगी
शून्यको, — हा हन्त हाय, रमणी, हा अनाथिनी,
हाय हाय वीरवधू, हाय वीर-प्रसविनी,—
मचेगा यों हाहाकार, तब सिर नत कर

धीरे-धीरे आँखें मूँद लोटियो तू धूलपर।
अस्तु, फिर मेरा तुझे नमस्कार बार-बार
अहे पूर्वज्ञात परिणाम मौन अनुदार,
निदारुण निर्मम करुण स्तब्ध शान्ति घोर,
स्निग्धतमा क्षमा, हे कल्याण कान्त सु-कठोर,
नमस्कार, द्वेषकी हे भीषण निर्वृति, नमः,
हे श्मशान-भस्मावृता परमा निष्कृति, नमः।

[दुर्योधनकी रानी भानुमतीका प्रवेश]

भानुमती— (दासियोंके प्रति)
इन्दुमुखी, परभृते, सिरपर रख लाओ
माल्य वस्त्र अलंकार।

गान्धारी— बेटी, धीरे बोलो, आओ।
कौरव-भवनमें क्या उत्सव है कोई आज,
कहाँ जा रही हो, वहू, धार नया साज-बाज ?

भानुमती— शत्रुके पराभवका आया यह शुभ क्षण।

गान्धारी— जिसके हैं शत्रु निज सुहृद आत्मीयजन,
उसकी है आत्मा शत्रु, धर्म शत्रु बड़ा-भारी,
उसके अजेय शत्रु सभी। हे कल्याणी, सारी
यह अलंकार-राशि आ गई कहाँसे, कहो ?

भानुमती— भुज बल-द्वारा पृथ्वी जीत, पाञ्चालीको, अहो,
जितने भी रत्न-मणि-मुक्तामय अलंकार
पाँचों पतियोंने दिये समुद प्रेमोपहार,
यज्ञ-अवसरपर जिन भूषणोको धार
द्रौपदीके अग दरसाते भाग्य-अहंकार
मणियोंके शत सूची-मुखोसे सुतीक्ष्णतर,
कुरु-कुल-कामिनीजनोंके उर बींधकर ;

माता, ये हैं वे ही अनमोल रत्न-आभूषण,
इन्हींसे सजाके मुझे उन्हें जाना पड़ा वन।

गान्धारी— हा री मूढ़, तो भी शिक्षा मिली नहीं रत्ती-भर!
तुझे अभिमान हो रहा है इन्ही रत्नोंपर!
यह क्या विषम ठाठ, प्रलयका साज-बाज,
युगान्तक उल्का-सी जलाती नही तुझे आज
क्या मणि-मञ्जीर यह? यह रत्न-ललाटिका
वज्र-शिखा-सी है तेरे भाग्यकी ही विनाशिका।
तुझे देख मेरे अंग-अंगमे संचार होता
त्रासका विकम्पन, है चित्त मेरा आज रोता,
शंकित कानोमें भर रहे अलंकार तव
उन्मादिनी शंकरीका ताण्डव - झंकार - रव।

भानुमती— माता, हम क्षत्राणियाँ, हमें न दुर्भाग्य-भय,
होती रहती है कभी जय, कभी पराजय।
मध्याह्न-व्योमस्थ कभी, और कभी अस्तंगत
क्षत्रिय - प्रताप-सूर्य उन्नत औ' अवनत
हुआ करता है। हम क्षत्रिय वीराङ्गनाएँ
यही सोच वक्षमें शंकाके रहती हैं, आर्ये
कितने ही संकट, हमें है नही कोई डर।
दुर्दिन दुर्योग यदि आता है तो हँसकर
उसकी उपेक्षा कर मरना होता है कैसे,
यह हम जानती हैं। बचना होता है कैसे
पति-पद - सेवा कर, शिक्षा यह भी की प्राप्त।

गान्धारी— बेटी, नहीं केवल अमगल तुम्हारा व्याप्त।
दल-बल सहित अमंगल है जब आता
और है मिटाता क्षुधा, हाहाकार मच जाता,
वीरोंके रुधिरकी हैं नदियाँ-सी बह जाती,

अश्रुकी धाराएँ विधवाओंकी हैं उमड़ाती,
कंगन करोंसे कुल - वधुओंके छूटकर
जाते हैं बिखर जैसे मंजरियाँ जातीं झर
लता- कुञ्ज - वनमें झंझासे। बेटी, बद्ध-सेतु
तोड़ मत, उठा मत गृहमें विप्लव-केतु
क्रीड़ा-मिस। हर्षका नहीं है, हाय, यह क्षण।
स्वजन - दुर्भाग्य - प्राप्त भूषणोंसे सजा तन
गर्व मत कर, बेटी! संयत स्वमन कर
आजसे तू व्रत - उपवास - आचरण कर
शुद्धान्त-करणसे। तू वेणी उन्मोचन कर
शान्त मनोमन्दिरमें देवता - अर्चन कर।
पुत्री, इस पापके अभ्युदयके दिन आज
दर्पसे विधाताको न प्रतिक्षण दे तू लाज।
फेक दे उतार अलंकार नव रक्ताम्बर,
उत्सवके वाद्य रोक, हटा राज्य-आडम्बर,
बुलवा पुरोहितको पुत्री, अग्निगृहमें जा
समयकी राह देख, उरमे पवित्रता ला।

[भानुमतीका प्रस्थान

[द्रौपदीको साथ लिये पाँचों पाण्डवोंका प्रवेश]

युधिष्ठिर— लेने आशीर्वाद आये तव चरणोंका, अम्ब,
विदाके समय हम।

गान्धारी— मेरे पुत्रो, अविलम्ब
विपदा - निशान्तपर द्विगुण समुज्ज्वल हो
उगेगा सौभाग्य - सूर्य। पवनसे बल लहो,
तेज पाओ सूर्यसे, पृथ्वीसे पाओ धैर्य क्षमा,
दुःखव्रती पुत्रो! गुप्त रह दीनतामें रमा

दीन छद्मवेशमें तुम्हारे पीछे चला करे,
छिपे-छिपे सर्वदा ही दु:खोंसे बटोर धरे
सम्पदाएँ अक्षय तुम्हारे लिए। भय-मुक्त
निर्वासन-वास सदा हो। ज्वलन्त तेज-युक्त
करे उर-अन्तरको बिना पाप दु:ख-भोग
वह्नि-तप्त स्वर्णवत्। यही महादुःख-योग
महत् सहाय हो तुम्हारा। विधि धर्मराज
ऋणी उसी दु:खके रहेंगे। फिर मूल-ब्याज
जब आत्म-ऋणका चुकायेंगे वे, देव नर
कौन खड़ा हो सकेगा पथ तव रोककर!
मेरे पुत्रोंने जो अपराध किये अनुचित
उन्हें करें खण्डन आशीषें मेरी तव हित,
पुत्राधिक पुत्रो, ये अन्याय अत्याचार छल
करें सु - कल्याण - सिन्धु मन्थन, दें शुभ-फल।

(द्रौपदीको आलिंगन करते-हुए)

भू-लुण्ठिता स्वर्णलता, अरी मेरी बेटी दुखी,
अयि राहुग्रस्त चन्द्रकला, अवनत-मुखी,
सिरको उठाओ, औ' दो ध्यान मेरी बातपर।
करेगा तुम्हारी अवमानना जो कोई नर,
उसका ही अपमान जगमें रहेगा बना,
अक्षय कलंक होगा। बाँट ली है उन्मना
सकल कुलाङ्गनाओंने ही सारे विश्व - बीच
तव अपमान-राशि, लाञ्छना सतीकी नीच
हाथोंसे कायरताकी। जाओ अमलीन-मुख
बेटी, पतियोंके संग, दुखको बनाओ सुख,
वनको बनाओ स्वर्ग। बहू मेरी, उर धरो
दु:सह स्वपति - व्यथा, सार्थक सतीत्व करो।

राज-भवनोंमें हैं सहस्र सुख अहोरात्र
आयोजित ; वनमें वनोगी तुम्हीं एकमात्र
सर्व सुख, सर्व संग, सकल ऐश्वर्यमय,
सकल सान्त्वना - स्थली, एकमात्र सर्वाश्रय,
क्लांतिकी विश्रांति शांति, व्याधिकी शुश्रूषा तुम्ही,
दुर्दिनोंकी शुभ-लक्ष्मी, मूर्तिमती ऊषा तुम्ही
तमोमयी रजनीकी। तुम्ही होगी एकाकिनी
सर्व प्रीति, सर्व-सेवा, माता और सुगृहिणी।
निर्मल सतीत्व - श्वेतपद्म शतदल - युत
खिलेगा सगौरव सम्पूर्ण परिमल - युत।

फागुन, १९५६]

मेघदूत

१

मिलनके प्रथम दिन बाँसुरीने क्या कहा था ?

कहा था—"वही आदमी मेरे पास आया है जो दूरका था।"

और कहा था—"पकड़ लेनेपर भी जिसे पकड़ा नहीं जा सकता, उसे पकड़ा है, पा लेनेपर भी जो समस्त प्राप्तियोंके परे है, उसे पा लिया।"

उसके बाद, फिर रोज बाँसुरी बजती क्यों नहीं ?

क्योंकि आधी बात भूल जो गया हूँ। सिर्फ याद रहा, वह पासमें है; किन्तु वह दूर भी है, इस बातका खयाल ही न रहा।

प्रेमके जिस आधे हिस्सेमें मिलन है, उसीको देखता हूँ, जिस आधेमें विरह है, उसपर निगाह ही नहीं जाती; इसीसे दूरका चिर-तृप्तिहीन देखना अब देखनेमे नहीं आता, पासके परदेने ओट कर ली है।

दो आदमियोंके बीचमें जो असीम आकाश है, वहाँ सब चुप हैं, वहाँ बातें नहीं होती। उस गहरी चुप्पीको बाँसुरीकी तानसे भर दिया जाता है। अनन्त आकाशकी सँध न मिलती तो बाँसुरी बजती ही नहीं।

हमारा वह बीचका आकाश आँधीसे छा गया है, रोजके काम-काज और बातचीतसे, रोजके भय चिन्ता और कंजूसीसे भर गया है वह।

२

किसी-किसी दिन चाँदनी रातमे हवा चलती है, तब बिछौनेपर जाकर बैठे रहनेमें हृदय व्यथित हो उठता है, तब याद आती है कि उस पासके आदमीको तो मैंने खो ही दिया।

यह विरह मिटे किस तरह, मेरे हृदयके साथ उसके हृदयका विरह ?

दिनके अन्तमें काम-काजसे छुट्टी पाकर जिसके साथ बातें करता हूँ, वह कौन है? वह तो संसारके हजारों आदमियोंमेंसे एक है, उसे तो मैंने जान लिया है, पहचान लिया है ; वह तो समाप्त हो चुकी।

पर, उसके भीतर मेरी वह कभी-न-समाप्त-होनेवाली एक कहाँ है, मेरी वह एकमात्र? उसे फिरसे नई तरहसे कहाँ किस तटहीन कामनाके किनारे ढूंढ निकालूँ? -

उसके साथ फिर एक बार किस समयकी सँधमेंसे बात करूँ, वन-मल्लिकाकी सुगन्धमें किस कर्महीन निविड़ संध्याके अन्धकारमें ?

३

इतनेमें नव-वर्षा छाया-उत्तरीय उड़ाती हुई पूर्व-दिगन्तमें आ पहुँची। उज्जयिनीके कविकी याद उठ आई। सोचा, प्रियाके पास दूत भेजूँ।

मेरे गान, उड चल, – पास रहनेके इस सुदूर दुर्गम निर्वासनको तू पार कर जा।

किन्तु, तब-तो गानको जाना पडेगा काल-स्रोतके प्रतिकूल चलकर बाँसुरीके उसी व्यथा-भरे प्रथम मिलनके दिनमें ; वही, जहाँ विश्वकी चिर वर्षा और चिर-वसन्तकी सम्पूर्ण गन्ध और सम्पूर्ण क्रन्दन इकट्ठा होकर रह गया है, केतकीवनके दीर्घ-नि श्वासमे और शाल-मंजरीके उतावले आत्म-निवेदनमें।

निर्जन पुष्करिणीके किनारेवाले उस नारियल-वनके मर्मर-मुखरित वर्षाकी बातको ही मेरी बात बनाकर प्रियाके कानो तक पहुँचा दे, जहाँ वह अपने बिखरे बालोंको सम्हालकर, उनमें गाँठ देकर, कमरसे आँचल बाँधे अपने घरके काममें व्यस्त है।

४

बहुत दूरका असीम आकाश आज वनराजिसे नील पृथिवीके सिरहानेके पास झुक पड़ा। कान-ही-कानमें बोला—"मै तुम्हारा ही हूँ।"

पृथिवीने कहा—"सो कैसे? तुम तो असीम हो, मै जो छोटी हूँ।"

आकाशने कहा—"मैंने तो चारों ओर अपने मेघोंकी सीमा खींच दी है।"

पृथिवी बोली—"तुम्हारे पास तो नक्षत्रोंकी बहुत सम्पद है, मेरे पास तो प्रकाशकी सम्पद नहीं।"

आकाशने कहा—"आज मेरी एकमात्र तुम ही हो।"

पृथिवी बोली—"मेरा आँसुओंसे भरा हृदय हवाके हर झोंकेसे चंचल हो काँपने लगता है, तुम तो अविचलित हो।"

आकाश कहने लगा—"मेरे आँसू भी आज चंचल हो गये हैं, देख नहीं रही हो? मेरा हृदय आज श्यामल हो गया है, तुम्हारे उस श्यामल हृदयकी तरह।"

यह कहकर उसने आकाश और पृथिवीके बीचके चिर-विरहको आँसुओंके गानसे भर दिया।

५

उस आकाश-पृथिवीके विवाह-मन्त्र-गुंजनको लेकर नववर्षा उतर आये न, हमारे विच्छेदपर। प्रियामें जो-कुछ अनिर्वचनीय हो, वह सहसा-बज-उठे वीणाके तारकी तरह चौंक पड़े। वह अपने माथेकी माँगपर, दूर वनान्तके रंगकी तरह, अपना नीला आँचल ढक ले। उसकी काली आँखोंकी चितवनसे मेघमल्लारके सारे मीड व्यथित हो उठें। सार्थक हो बकुल-माला उसकी वेणीकी तह-तहमें लिपटकर।

जब झींगुरोंकी झंकारसे वेणुवनका अँधेरा थरथर काँप रहा हो, जब वर्षाकी हवासे दीप-शिखा काँपते-काँपते बुझ चुके, तब वह अपने बहुत ही पासके उस संसारको छोड़कर चली न आवे, भीगी घासकी सुगन्धसे भरे वन-पथसे, मेरे एकान्त निर्जन हृदयकी निशीथ-रात्रिमें।

वाणी

१

बूँद-बूँद वर्षाके रूपमें आकाशके बादल धरतीपर उतरते हैं, धरतीको पकड़ाई देनेके लिए। ऐसे ही कहींसे स्त्रियाँ आती है पृथ्वीपर बन्धनोंमें बँधनेके लिए।

उनके लिए कम जगहकी तंग दुनिया है, थोड़े आदमियोंकी। उतने ही में उनका अपना सब-कुछ अँट जाना चाहिए, – उनकी अपनी सब बाते, सब व्यथाएँ, सब चिन्ताएँ। इसीसे उनके सिरपर घूँघट है, हाथोमे कंकण है, घरमें आँगनका घेरा है। स्त्रियाँ सीमा-स्वर्गकी इन्द्राणी हैं।

भला किस देवताके कौतुक-हास्यकी तरह अपरिमित चंचलता लिये-हुए हमारे मुहल्लेमे उस छोटी-सी लडकीका जन्म हुआ ? मा उसे गुस्सेमें कहती है, 'डाइन'; बाप उसे हँसकर कहता है, 'पगली'।

वह भागते-हुए झरनेका पानी है, शासनके कंकड़-पत्थरोंको लाँघ-लाँघकर चलती है। उसका मन मानो वेणुवृक्षकी ऊपरकी डालीका पत्ता है, हमेशा फरफर काँपता रहता है।

२

आज देखूँ तो, वह अशान्त लडकी छज्जेकी रेलिंगपर झुककर चुपचाप खड़ी है, वर्षा-शेषके इन्द्र-धनुषकी तरह। उसकी बडी-बड़ी दो काली आँखें आज अचंचल हैं, तमालवृक्षकी डालीपर मेहसे भीगी चिरैयाकी तरह।

उसे ऐसा स्थिर कभी नहीं देखा। मालूम होता है, नदी चलते-चलते मानो एक जगह ठिठककर सरोवर हो गई है।

३

कुछ दिन पहले धूपका शासन था प्रखर।

दिगन्तका चेहरा फक पड़ गया था; पेडके पत्ते सूखी हल्दी-से, हताश्वास हो गये थे।

इतनेमे सहसा बिखरे-हुए पागल काले बादल आकाशके एक कोनेमें तम्बू गाड़कर जम गये। सूर्यास्तकी एक रक्त-रश्मि मानो मियानके भीतरसे तलवारकी तरह निकल पड़ी।

आधी रातको देखूँ तो, दरवाजे खड़खड शब्द करते-हुए काँप रहे हैं। सारे शहरके घूँघटको आँधीकी हवाने, चोटी पकड़कर, झकझोर डाला।

उठकर देखा तो, गलीकी बत्ती घनघोर वर्षामें शराबीकी गँदली आँखोंकी तरह दिखाई दी। और गिरजाकी घडीका शब्द मानो वर्षाके शब्दकी चादर ओढ़कर आ धमका।

सवेरे जलकी धारा और भी तेज हो गई, घामको उसने उठने ही नही दिया।

४

ऐसी बदलीमे हमारे मुहल्लेकी वह लड़की छज्जेपर रेलिंग थामे चुपचाप खडी है।

उसकी बहनने आकर उससे कहा—"मा बुलाती है।" उसने सिर्फ जोरसे सिर हिलाया, उसकी वेणी हिल उठी, कागजकी नाव हाथमें लिये उसका भाई आया, बहनका हाथ पकड़कर खींचने लगा। उसने झटकेसे हाथ छुड़ा लिया। तो भी, उसका भाई खेलनेके लिए खींचातानी करने लगा। भाईके गालपर उसने एक चपत जमा दी

५

मेह बरस रहा है। अँधेरा और भी घना हो उठा। लडकी ज्यों-की-त्यों खडी रही।

आदियुगमे सृष्टिके मुहसे पहली बात निकली थी जलकी भाषामे, हवाके कण्ठसे। लाखों-करोडों वर्ष पार होकर उस स्मरण-विस्मरणकी अतीत बातने आज वर्षा-बादलके कल-स्वरमे उस लड़कीको आकर पुकारा। इसीसे वह आज समस्त सीमाओंके बाहर जाकर खो गई।

कितना बड़ा काल है , कितना बड़ा संसार है, पृथ्वीमें कितने युगोंकी, कितनी जीव-लीलाएँ हैं ! उस सुदूरने, उस विराटने, आज इस लड़कीके मुँहकी ओर देखा, बादलोंकी छायामें, वर्षाके कल-शब्दमे ।

इसीसे वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोलकर निस्तब्ध खड़ी रही, मानो अनन्तकाल की ही प्रतिमा हो वह ।

बाँसुरी

बाँसुरीकी वाणी चिरकालकी वाणी है ; शिवकी जटासे गंगाकी धारा परिचित पृथ्वीकी छातीपरसे बहती ही चली जा रही है ; मानो अमरावतीका शिशु उतर आया हो मर्त्यलोकको धूलमें, स्वर्गका खेल खेलने ।

सड़कके किनारे खड़ा-खड़ा बाँसुरी सुनता हूँ तो मन न-जाने कैसा-तो करने लगता है, कुछ समझमें नही आता । परिचित सुख-दु खके साथ उस व्यथाका मिलान करता हूँ तो मिलता नही । देखता हूँ परिचित हँसीसे वह कही उज्ज्वल है, परिचित आँसुओंसे कही गम्भीर है ।

और मालूम होता रहता है, परिचित सत्य नही है, अपरिचित ही सत्य है। मन ऐसा ऊटपटाग सोचता कैसे है ? शब्दोमे इसका कोई जवाब नहीं ।

आज तड़के ही उठकर सुना, नौबतकी बाँसुरी बज रही है, किसीके घर ब्याह है ।

ब्याहकी इस पहले दिनकी तानके साथ रोजमर्राकी तान मिलती कहाँ है ? छिपी-हुई अतृप्ति, गहरी निराशा ; निरादर, अपमान अवसाद ; तुच्छ कामनाकी कृपणता, नीरसताका भद्दा कलह, क्षमा-हीन क्षुद्रताका संघात, और अभ्यस्त जीवन-यात्राकी धूलि-लिप्त दरिद्रता,– बाँसुरीकी देववाणीमें इन सब बातोंका आभास कहाँ है ?

गीतके स्वरने संसारके ऊपरसे इन परिचित बातोंका परदा एक झटकेमे फाड फेंका है।

चिरकालकी वर-वधूकी 'शुभदृष्टि' किस चुनरीके सलज्ज घूँघटके नीचे दवी पडी है, यह वात तो वाँसुरीकी तान ही से प्रकट हो गई।

जव वहाँका माला-परिवर्तनका गीत वाँसुरीमें वज उठा, तो यहाँकी इस वधूकी ओर मैने निहारकर देखा, उसके गलेमें सोनेका हार है, पाँवोंमें छड़े हैं, मानो वह क्रन्दनके सरोवरमें आनन्दके खिले-हुए कमलपर खड़ी है।

स्वरलहरीके भीतरसे वह इस संसारकी नही मालूम होती। वही परिचित घरकी लडकी अव अपरिचित घरकी वहूके रूपमे दिखाई देने लगी है।

वाँसुरीने कहा—"यही सत्य है।"

सत्रह वर्ष

सत्रह वर्षसे मेरी उससे जान-पहचान है।

कितना आना-जाना, देखना-भालना, कहना-सुनना ; उसीके आस-पास कितने स्वप्न, कितने अनुमान, कितने इशारे, साथ ही कभी पौ-फटनेसे पहले उचटी-हुई नींदमें ध्रुवताराकी चमक, कभी आषाढकी संध्यामे चमेलीकी सुगंध कभी वसन्तके शेष-प्रहरमें थकी-हुई नौवतकी पीलू-वरवाँ तान, लगातार सत्रह वर्षसे ये सव वातें गुँथी हुई थी उसके मनमे।

और उन-सवके साथ मिलाकर वह मेरा नाम लेकर पुकारती, उस नामसे जो आदमी वोलाता, वह अकेले विधाताकी रचना तो नही थी, वह तो उसीके सत्रह वर्षकी पहचानसे वना था, कभी आदरसे और कभी अनादरसे, कभी कामसे और कभी विना कामके, कभी सवके सामने और कभी अकेले छिपे हुए। सिर्फ एक आदमीके प्राण मनकी जान-पहचानसे वना-हुआ था वह आदमी।

उसके वाद और सत्रह वर्ष वीत गये। पर उनके दिन, उनकी रातें तो उस नामके राखी-वन्धनसे एक होकर मिलती नहीं, वे तो विखर जाती हैं।

इसीसे वे रोज मुझसे पूछती हैं—"हम रहेंगी कहाँ ? हमें बुलाकर घेरे कौन रहेगा ?"

मै उन्हें कोई जवाब नही दे पाता, चुपचाप बैठा रहता हूँ और सोचा करता हूँ। और वे हवामें उड़ी चली जाती हैं। कहती हैं—"हम ढूंढने चल दी।"

"किसे ?"

किसे, सो वे नही जानती। इसीसे कभी इधर जाती हैं, कभी उधर, संध्याकालके इधर-उधर बिखरे-हुए मेघोकी तरह अँधेरेमे पार हो रही हैं, देखनेमें नही आती।

एक दिन

याद आती है उस दुपहरियाकी। क्षण-क्षणमें वर्षाकी धारा जब थकने लगती है, तो हवाके झोंके आकर फिर उसे उन्मत्त कर देते हैं। घरमें अँधेरा है, काममें मन नही लगता। बाजा हाथमें लेकर मै वर्षाका गीत मल्लार-सुरमें गाने लगा।

पासके घरसे एक बार वह सिर्फ द्वार तक आई, फिर लौट गई। फिर एक बार बाहर आकर खडी हो गई। उसके बाद धीरे-धीरे वह भीतर जाकर बैठ गई। उसके हाथमें सीनेका काम था, सिर झुकाकर सीने लगी उसके बाद सींना छोडकर खिड़कीके बाहर धुँधले पेडोकी ओर देखती रही।

वर्षा थमने लगी, गीत भी थम गया। वह उठकर बाल बाँधने चली गई। बस इतनी-ही-सी बात है, और कुछ नही। वर्षा, गीत, फुरसत और अँधेरेसे लिपटी-हुई वही एक दुपहरिया। इतिहासमें राजा-बादशाह और युद्ध-विग्रहकी कहानियाँ बड़ी सस्ती हैं, मारी-मारी फिरती है। पर उस दुपहरियाकी एक छोटी-सी बातका टुकड़ा दुर्लभ रत्नकी तरह कालकी डिब्बीमें दुबका ही रह गया, सिर्फ दो ही आदमी उसे जानते हैं।

प्रश्न

१

बाप श्मशानसे घर लौटा ।

सात वर्षका लडका उघडे-वदन, गलेमें उसके सोनेका तावीज है, अकेला गलीवाले जंगलेके पास खडा था ।

क्या सोच रहा था, उसे खुद नहीं मालूम ।

सवेरेकी घाम सामनेवाले नीमकी फुनगीपर दिखाई देने लगी ।

अँबिया बेचनेवाला गलीमें आवाज देता-हुआ निकल गया ।

बापने आकर लल्लाको गोदमें उठा लिया, लल्लाने पूछा—"मा कहाँ है ?"

बापने ऊपरकी ओर सिर उठाकर कहा—"भगवानके पास ।"

२

उस रातको शोक-सन्तप्त बाप सोते-सोते क्षण-क्षणमे रोने लगा, आँखोंमें आनेवाले आँसू छातीकी छातीमें ही घुमड़-घुमडकर रह गये ।

दरवाजेपर टिमटिमाती-हुई लालटेन है, और दीवारपर है छिपकलीका जोड़ा ।

सामने खुली छत है ; मालूम नही, कबसे लल्ला वहाँ आकर खडा है ।

चारों तरफ बत्ती-बुझे मकान मानो दैत्यपुरीके पहरेदार-से खड़े-खडे सो रहे हैं ।

लल्ला उघडे-वदन खड़ा-खड़ा ऊपर आकाशकी ओर एकटक देख रहा है ।

उसका भटका-हुआ मन किसीसे पूछ रहा है—"भगवानके पास जानेका रास्ता किधर है ?'

आकाश उसका कोई जवाब नहीं देता ।

सिर्फ तारोंमें गूँगे अन्धकारके आँसू चमक रहे हैं ।

कृतघ्न शोक

खूब सवेरे ही उसने विदा ले ली।

मेरा मन मुझे समझाने बैठा—"सब-कुछ माया है।"

मै नाराज हो उठा, बोला—"यह देखो-न, टेबिलपर रखा सिलाईका बकस, छतपर रखा-हुआ फूलके पौधेका टब, पलंगपर नाम-लिखा-हुआ पंखा, सभी तो सत्य है!"

मनने कहा—"तो भी, जरा सोच देखो –"

मैंने कहा—"तुम चुप रहो। वो देखो-न कहानीकी किताब, उसके पन्नोंके बीच लगा-हुआ माथेका काँटा, किताब अभी पूरी पढी भी नहीं थी, यह भी अगर माया है, तो वह इससे भी बढ़कर माया क्यों हुई?"

मन चुप हो रहा।

मित्रने आकर कहा—"जो अच्छा है सो सत्य है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता; सारा संसार उसे रत्नकी तरह छातीके हारमें गूंथ रखता है।"

मैंने गुस्सेमें आकर कहा—"कैसे जाना तुमने? देह क्या अच्छी नही? फिर वह देह कहाँ चली गई?"

छोटा बच्चा जैसे गुस्सा होकर माको मारने लगता है, मै भी वैसे ही विश्वमें मेरा जो-कुछ आश्रय था सबको मारने लगा। बोला—"संसार विश्वासघातक है!"

सहसा चौक उठा। ऐसा लगा जैसे कोई बोल उठा हो—"अकृतज्ञ!"

खिडकीके बाहर देखा कि झाऊके पेड़की ओटमें तृतीयाका चाँद उग रहा है। जो गई है, मानो उसीकी हँसीकी आँखमिचौनी हो। तारा-बिखरे अन्धकारके भीतरसे एक भर्त्सना-सी आई—"पकड़ाई दी थी, वही क्या धोखा था; और अब जरा आड़में पड़ गई हूँ सो उसपर इतना जबरदस्त विश्वास!"

मेघ और धूप

१

कल वर्षा हो चुकी है। आज वर्षण-हीन प्रभातमें धूप और मेघ दोनों मिलकर अध-पके आउस-धानके खेतोंपर पारी-पारीसे अपनी-अपनी तूलिका फेर रहे हैं, सुविस्तृत श्याम चित्रपट प्रकाशके स्पर्शसे क्षणमें उज्ज्वल पाण्डुवर्ण हो उठता है और छायाके प्रलेपसे क्षणमें गाढी स्निग्धतामें डूब जाता है।

सम्पूर्ण आकाश-रंगभूमिमें मेघ और धूप, मात्र दो नट-नटी जब कि अपना-अपना सुनिपुण अभिनय दिखा रहे थे, नीचे संसार-रंगभूमिपर तब कहाँ-कहाँ क्या-क्या अभिनय चल रहे थे, कौन कह सकता है!

हम जहाँ एक छोटे-से जीवन-नाट्यका परदा उठा रहे हैं वहाँ गाँवके रास्तेके किनारे एक मकान दिखाई दे रहा है। उसका बाहरका सिर्फ एक ही कमरा पक्का है, बाकीका सारा मकान कच्चा है, और सबको घेरे हुए है एक टूटी-फूटी पक्की दीवार, जो बाहरवाले कमरेके दोनों बगल आकर खतम हो गई है। सडककी तरफ कमरेकी जो सीखचोंवाली खिड़की है, उसमेंसे दिखाई दे रहा है, एक नवयुवक उघडे-बदन तख्तपर बैठा हुआ क्षण-क्षणमें बायें हाथसे पंखा हिलाकर गरमी और मच्छड़ दूर करनेकी कोशिश कर रहा है, और दाहने हाथमें किताब लिये बडे ध्यानसे पढ रहा है।

और बाहरका यह हाल कि ठीक खिडकीके सामने सड़कपर डोरियाकी साड़ी पहने-हुए एक लडकी अपने आँचलमे बँधे जामुन खाती-हुई बार-बार इधरसे उधर चक्कर लगा रही है। लड़कीका चेहरा और हाव-भाव देखकर साफ समझमें आ जाता है कि भीतर जो नवयुवक बैठा-हुआ किताब पढ़ रहा है उससे इसका घनिष्ट परिचय है, और किसी भी तरह वह उसका ध्यान आकर्षित करके अवज्ञाके साथ उसे जता देना चाहती है कि 'फिलहाल मैं जामुन खानेमें अत्यन्त व्यस्त हूँ, और तुम्हारी मुझे जरा भी परवाह नही।'

दुर्भाग्यसे घरके भीतर बैठा-हुआ अध्ययनशील युवक आँखोंसे जरा कम देखता है, और इसलिए दूरसे बालिकाकी नीरव उपेक्षाका उसपर कोई असर नही पड़ रहा। लड़की भी इस बातको जानती है, लिहाजा, बहुत देर तक व्यर्थ चक्कर काटनेके बाद नीरव उपेक्षाके बदले अब वह जामुनकी गुठलियोंका प्रयोग करने लगी। अन्धेके आगे अपने अभिमानकी विशुद्धता बनाये रखना सचमुच ही बड़ा मुश्किल काम है।

जब क्षण-क्षणमें कठोर गुठलियाँ, मानो दैवसे विक्षिप्त होकर, खिड़कीपर जाकर बजने लगी, तब अध्ययन-मग्न युवकने सिर उठाकर बाहरकी तरफ देखा। मायाविनी बालिका तुरत ताड़ गई; और पहलेसे दूनी दिलचस्पीके साथ अपने आँचलमेंसे खाने-लायक पके जामुन छाँटनेमें लग गई। युवकने भौंहें सिकोड़कर विशेष प्रयत्न-पूर्वक बालिकाको देखा और पहचान लिया; और किताब रखकर खिड़कीके पास खड़ा होकर मुसकराता-हुआ बोला—"गिरिबाला!"

गिरीबाला अविचलित-चित्तसे अपने आँचलके जामुनोंका निरीक्षण-परीक्षण करती-हुई सम्पूर्ण आत्म-मग्न होकर अत्यन्त धीमी चालसे, मानो एक-एक कदम गिन-गिनकर, चलने लगी।

तब फिर क्षीणदृष्टि युवकको समझनेमें देर न लगी कि यह उसके किसी अज्ञानकृत अपराधका ही दण्ड दिया जा रहा है। जल्दीसे वह बाहर निकल आया; और बोला—"आज तुमने मुझे जामुन नही दिये, गिरी!" गिरिबालाने उसकी बातपर जरा भी ध्यान न देकर, बहुत खोज और परीक्षाके बाद एक जामुन चुना और उसे वह खूब मन लगाकर खाने लगी।

ये जामुन गिरिबालाके अपने बगीचेके जामुन हैं, और उक्त युवकका उसमें दैनिक हिस्सा बँधा-हुआ है। मालूम नही क्यो, उस बातकी आज गिरिबालाको जरा भी याद नही रही, और उसके व्यवहारसे यही मालूम हुआ कि भर-आँचल जामुन उसने अपने लिए ही बीने हैं। लेकिन, अपने बगीचेके जामुन दूसरे किसीके दरवाजेके सामने जाकर इस तरह छेड़छाड़के साथ खानेके क्या मानी हैं, सो साफ समझमे नही आये। अन्तमे युवकने

गिरिबालाके पास आकर उसका हाथ पकड़ लिया। गिरिबालाने पहले तो टेढ़ी-तिरछी होकर हाथ छुड़ाकर भाग जानेकी कोशिश की, बादमें वह सहसा जोरसे रो दी; और आँचलके जामुन जमीनपर पटककर भाग खड़ी हुई।

सवेरेकी चंचल धूप और चंचल बादलोंने शामको शान्त और श्रान्त भाव धारण कर लिया। आकाशमें फूले-हुए भूरे बादलोंका स्तूप-सा बन गया है; और संध्या-पूर्वका हारा-थका उजाला पेड़के पत्तों, तालाबके पानी और वर्षामें नहाई प्रकृतिके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगपर चमक रहा है। फिर वह लड़की सड़कवाली बैठककी खिड़कीके बाहर चक्कर लगा रही है, और युवक भीतर बैठा है। सुबह और अबमें फरक सिर्फ इतना ही है कि लड़कीके आँचलमें जामुन नहीं हैं और युवकके हाथमें भी पुस्तक नहीं है। इससे बढ़कर और-भी कुछ-कुछ गूढ़ प्रभेद था।

इस समय बालिका किस विशेष आवश्यक कामसे चक्कर काट रही है यह बताना कठिन है। और चाहे जो भी जरूरी काम हो, पर कमरेके भीतर बैठे युवकसे बात करनेकी जरूरत है, यह बात बालिकाके व्यवहारसे कतई प्रकट नहीं होती। बल्कि ऐसा मालूम होता है, मानो वह सिर्फ यह देखने आई है कि सवेरे जो वह जामुन फेंक गई थी उनमेंसे कोई अंकुरित हुआ है या नहीं।

किन्तु, अंकुर न निकलनेके अन्यान्य कारणोंमें एक मुख्य कारण यह था कि सवेरेके वे जामुन युवकके सामने तख्तपर रखे हुए थे, और बालिका जब कि जग-जगमें झुक-झुककर किसी अनिर्देश्य काल्पनिक पदार्थकी खोजमें लगी हुई थी, युवक तब अपने मनकी हँसीको दबाये हुए अत्यन्त गम्भीरताके साथ जामुन चुन-चुनके खा रहा था। अन्तमें जब दो-एक गुठली दैवसे बालिकाके पैरोंके पास, यहाँ तक कि पाँवके ऊपर आकर पड़ने लगी, तब गिरिबाला समझ गई कि युवक उसके रूठनेका बदला ले रहा है। पर ऐसा करना क्या उचित है? गिरिबाला जब कि अपने छोटे-से हृदयका सम्पूर्ण गर्व त्यागकर आत्म-समर्पण करनेका मौका ढूंढ रही है, तब क्या युवकका उसके इस अत्यंत दुरूह मार्गमें इस तरह बाधा देना निष्ठुरता नहीं है? वह पकड़ाई देने आई है, इस बातको जब युवक ताड़ गया तो लड़कीका चेहरा क्रमशः

सुर्ख हो उठा और वह भागनेका मौका देखने लगी ; और तब युवकने बाहर आकर उसका हाथ पकड़ लिया।

सवेरेकी तरह इस वक्त भी बालिकाने टेढ़ी-तिरछी होकर हाथ छुड़ाकर भागनेकी बहुत कोशिश की, पर रोई नहीं। बल्कि सुर्ख होकर गरदन टेढ़ी करके वह बल-प्रयोग करनेवालेकी पीठकी तरफ मुंह छिपाकर खूब हँसने लगी, और मानो मात्र-एक बाहरी आकर्षणसे पराजित होकर बन्दीकी तरह उसने बैठक-कारागारमे प्रवेश किया।

आकाशमें मेघ और धूपका खेल जैसा साधारण है, पृथ्वीपर इन दोनोंका खेल भी वैसा ही साधारण और वैसा ही क्षणस्थायी है। और-फिर, आकाशमें जैसे मेघ और घामका खेल न साधारण है और न खेल है, किन्तु देखनेमें खेल-सा लगता है, उसी तरह इन दो मानव-सन्तानके बेकार वर्षा दिनका छोटा-सा इतिहास संसारकी हजारों-लाखों घटनाओंमे तुच्छ मालूम पड सकता है किन्तु तुच्छ हरगिज नहीं। जो वृद्ध विराट अदृष्ट अविचलित गम्भीरता धारण करके अनादिकालसे युगके साथ युगान्तर गूंथता चला जा रहा है वही वृद्ध बालिकाके इस सुबह-शामके तुच्छ हँसने-रोनेमें जीवनव्यापी सुख-दु:खका बीज अंकुरित कर रहा है। फिर भी बालिकाका यह अकारण अभिमान बड़ा ही अर्थहीन मालूम हो रहा है। सिर्फ दर्शकोकी दृष्टिमें ही नही, बल्कि इस छोटे से नाटकके प्रधान पात्र उक्त युवककी दृष्टिमें भी। यह लड़की क्यों-तो किसी दिन गुस्सा हो जाती है और क्यो किसी दिन अपरिमित स्नेह प्रकट करती रहती है, क्यों-तो किसी दिन दैनिक देन बढ़ा देती है और क्यों किसी दिन उसे बिलकुल ही बन्द कर देती है, इसका कुछ भी कारण ढूंढे नहीं मिलता। किसी-किसी दिन मानो वह अपनी सारी कल्पना चिन्ता और निपुणता इकट्ठी करके युवकको तुष्ट करनेमें लग जाती है; और किसी-किसी दिन अपनी सारी शक्तिकी कठोरताको दृढ और एकत्र करके उसे चोट पहुंचानेकी कोशिश करती रहती है। और वेदना न पहुंचा सकनेपर उसकी कठोरता और-भी बढ़ जाती है ; और कृतकार्य होनेपर वह कठोरता अनुतापके आँसुओंमें गलकर प्रबल स्नेहधारामें बहने लगती है।

इस तुच्छ मेघ-धूपके खेलका प्रथम तुच्छ इतिहास बतानेके लिए ही इस कहानीकी अवतारणा है।

२

गाँवके और-सब लोग गुटबन्दी, षड़यन्त्र, ईखकी खेती, झूठे मामले और पाटके रोजगारमें लगे रहते हैं ; सिर्फ गिरिबाला और शशिभूषण ये ही दो ऐसे हैं जो मानव-हृदयकी भावधारा और साहित्यके विषयमें विचार किया करते हैं।

इसमें और-किसीके लिए कोई उत्सुकता या उत्कण्ठाका कोई विषय नहीं। कारण, गिरिबालाकी उमर है दस सालकी ; और शशिभूषण है सद्य-विकसित एम०ए० बी०एल०, दोनों पड़ोसी हैं, बस।

गिरिबालाके पिता हरकुमार किसी समय अपने गाँवके पट्टेदार थे। अब बिगड़ी-हालतमें सब बेचकर अपने परदेशी जमींदारके यहाँ वे नायबका काम करते हैं। जिस परगनामें वे रहते हैं उसी परगनेके नायब हैं, इसलिए गाँव छोड़कर उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ता।

शशिभूषण एम०ए० पास करनेके बाद कानूनी परीक्षा भी पासकर चुका है, किन्तु अभी तक किसी काममें नहीं लगा। लोगोंसे मिलना-जुलना या कहीं किसी सभा-समितिमें जाकर कुछ बोलना, इतना भी उससे नहीं होता। आँखोंसे कम दिखाई देनेकी वजहसे किसीको जल्दी पहचान नहीं पाता और इसीलिए उसे भौंहें सिकोड़कर देखना पड़ता है ; और इस बातको लोग उसकी उद्दण्डता ही समझते हैं।

कलकत्ताके जन-समुद्रमें अपने मन माफिक अकेला रहना शोभा दे सकता है, किन्तु गाँवमें यह एक तरहकी स्पर्धा या हिमाकती-सी ही मालूम होती है। शशिभूषणके पिता कोशिश करते-करते जब थक गये तो उन्होंने अपने इस अकर्मण्य पुत्रको गाँवमें ही अपने मामूली काम-धन्धेमें लगा दिया। किन्तु फिर भी शशिभूषणको गाँववालोंसे काफी परेशानी उपहास और लाञ्छना ही सहनी पड़ी। इस परेशानीका और भी एक कारण था, और वह यह कि

शशिभूषण ब्याह करनेके लिए राजी नहीं हुआ ; और कन्या-दायग्रस्त माता-पिताओंने उसकी इस अनिच्छाको दु:सह अहंकार समझा और वे उसे किसी भी तरह क्षमा न कर सके।

इस तरह, शशिभूषणपर ज्यों-ज्यों उपद्रव होने लगा, त्यों-त्यों वह अपने घरमें घुसके रहने लगा। घरके एक कोनेमें तख्तपर अंग्रेजीकी कुछ जिल्ददार पुस्तकें लेकर बैठा रहता ; और जब जिसपर तबीयत चलती उसीको उठाकर पढ़ा करता। बस, यही उसका काम था। सम्पत्तिकी कैसे रक्षा होती, सो सम्पत्ति ही जाने।

इस बातका पहले ही आभास दिया जा चुका है कि गाँवमें उसका किसीसे सम्बन्ध था तो सिर्फ एक गिरिबालासे।

गिरिबालाके भाई सब स्कूल जाते और वापस आकर अपनी मूढ़ बहनसे किसी दिन पूछते, 'पृथ्वीका आकार कैसा है ?' और किसी दिन पूछते, 'सूरज बड़ा है या पृथ्वी ?' और जब वह गलत जवाब देती तो उसकी काफी अवज्ञा करके गलती सुधार देते। 'सूर्य पृथ्वीसे बड़ा है' यह मत प्रमाणाभावसे गिरिबालाको अगर असिद्ध मालूम होता और वह अपने सन्देहको अगर हिम्मत करके प्रकट कर देती, तो उसके भाई उसकी दूनी उपेक्षा करते ; और कहते, "अरे जा ! हमारी किताबमें लिखा है ! और तू—" इत्यादि।

'छपी हुई किताबमें लिखा है' सुनकर गिरिबाला चुप रह जाती ; और दूसरे किसी प्रमाणकी फिर उसे कोई जरूरत ही नहीं मालूम होती।

पर, उसका भीतर-ही-भीतर जी चाहता रहता कि वह भी भाइयोंकी तरह किताब पढ़े। किसी-किसी दिन वह भाइयोंकी किताबोंमेंसे कोई किताब उठा लाती ; और एकान्तमें बैठकर बड़बड़ाती हुई किताब पढ़नेकी नकल किया करती ; और एकके बाद एक ऐसे पन्ने उलटा करती कि मानो पिछले पन्ने सब पढ़ ही चुकी हो। छापेके काले-काले छोटे-छोटे अपरिचित अक्षर मानो किसी एक महारहस्यशालाके सिंहद्वारके आगे कतारसे खड़े होकर, कँधेपर एकार ओकार रेफ उठाये, पहरा ही दिया करते ; गिरिबालाके किसी प्रश्नका कोई

उत्तर नहीं देते। 'कथामाला' अपने बाघ भालू गीदड़ घोड़े गधे इनमेंसे किसी एककी भी बात इस बालिकाको नही बताती ; और 'आख्यान-मञ्जरी' अपनी सारी कहानियोंको लिये मौनव्रतीकी तरह चुपचाप उसके मुंहकी ओर देखती रहती।

गिरिबालाने अपने भाइयोंसे पढना सीखनेका प्रस्ताव किया था, लेकिन भाइयोंने उसकी बातपर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इस विषयमें एकमात्र शशिभूषण ही उसका सहायक था।

गिरिबालाके लिए 'कथामाला' और 'आख्यान-मञ्जरी' जैसे दुर्भेद्य रहस्यपूर्ण थी, शुरू-शुरूमें शशिभूषण भी लगभग वैसा ही था। लोहेके सीखचोंके अन्दर ढेरकी ढेर किताबोंके बीच तख्तपर अकेला बैठा-हुआ शशिभूषण जब किताब पढा करता, तो गिरिबाला खिडकीके पास बाहर खडी आश्चर्यके साथ उसे देखा करती, और पुस्तकोंकी संख्याका हिसाब लगाकर मन-ही-मन तय कर लेती कि उसके भाइयोंकी अपेक्षा शशिभूषण बहुत ज्यादा विद्वान है। इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात उसके लिए और कुछ भी नहीं थी। 'कथामाला' आदि संसारकी मुख्य मुख्य पुस्तकें शशिभूषण कबका पढ़के खतम कर चुका है, इस विषयमें उसे जरा भी सन्देह नही। इसीलिए शशिभूषण जब किसी पुस्तकके पन्ने उलटता रहता तब वह स्थिर खड़ी-खड़ी उसके ज्ञानकी परिधिका अन्दाज लगाती रहती।

अन्तमे, एक दिन इस विस्मयमग्न बालिकाने क्षीणदृष्टि शशिभूषणका ध्यान आकर्षित कर ही लिया। शशिभूषणने एक दिन एक चटकदार जिल्दकी किताब खोलकर गिरिबालासे कहा—"गिरी, आ तुझे तसवीर दिखाऊँ।" उसका इतना कहना था कि गिरिबाला चटसे अपने घर भाग गई।

लेकिन, दूसरे दिन फिर वह डोरियाकी साडी पहनके उसी तरह खिड़कीके पास आ खडी हुई। और वैसे ही गम्भीर मौन-आग्रहके साथ शशिभूषणका पढ़ना देखने लगी। शशिभूषणने उस दिन भी उसे बुलाया और उस दिन भी वह झटकेसे अपनी वेणी हिलाकर भाग खडी हुई।

इस तरह इनके परिचयका सूत्रपात हुआ ; किन्तु कब वह घनिष्ठतर हो

उठा और कब उस बालिकाने सीखचोंके बाहरसे कमरेके भीतर आकर शशिभूषणकी ढेरकी ढेर किताबोंके बीच अपने लिए भी जगह कर ली, उसकी ठीक तारीख बतानेके लिए ऐतिहासिक गवेषणाकी आवश्यकता है।

गिरिबालाने शशिभूषणसे पढना शुरू कर दिया। और, पाठक सुनकर हँसेंगे, यह मास्टर अपनी छोटी-सी छात्राको सिर्फ अक्षर हिज्जे और व्याकरण ही सिखाता हो सो बात नहीं, बड़े-बड़े काव्योंमेंसे चुने-हुए अंशोंका अनुवाद कर-करके सुनाया करता है, और उसका मतामत भी पूछा करता है। लड़की क्या समझती है, सो अन्तर्यामी ही जानते होंगे, पर उसे अच्छा लगता है इसमें कोई सन्देह नहीं। वह समझना न-समझना मिलाकर अपने बाल्य हृदयमें तरह-तरहके कल्पना-चित्र अंकित करती रहती। चुप बैठी आँखें फाड़-फाड़के सब बातें मन लगाकर सुना करती; बीच-बीचमें एक-एक अत्यन्त असंगत प्रश्न कर बैठती और कभी-कभी अकस्मात् ऐसे असंलग्न प्रसङ्गपर पहुँच जाती कि जिसे सुनकर विज्ञ पाठक हँसे बगैर नहीं रह सकते। किन्तु शशिभूषण बाधा न देकर सब-कुछ दिलचस्पीके साथ सुन लिया करता; बल्कि यों कहना चाहिए कि उन बड़े-बड़े काव्योंके विषयमें इस अतिक्षुद्र समालोचक की निन्दा-प्रशंसा और टीका-भाष्य सुनकर विशेष आनन्द अनुभव करता। सारे गाँवमें यह गिरिबाला ही उसकी एकमात्र समझदार साथिन थी।

गिरिबालाके साथ शशिभूषणका पहले-पहल जब परिचय हुआ था तब गिरिबालाकी उमर थी, कुल आठ सालकी; और अब वह हो गई है दस सालकी। इन दो सालोंमें उसने बंगला और अंग्रेजीकी वर्णमाला सीखकर दो-चार सरल पुस्तकें भी पढ़ डाली हैं। और शशिभूषणको भी इन दो वर्षोंमे देहात-गाँव नितान्त सङ्ग-विहीन और नीरस नहीं मालूम हुआ।

३

किन्तु, गिरिबालाके बाप हरकुमारके साथ शशिभूषणकी अच्छी तरह बनी नहीं। हरकुमार शुरू-शुरूमें इस 'एम० ए०, बी० एल०' के पास मामला-मुकदमोंके बारेमें सलाह लेने आया करते थे। पर शशिभूषणने

उनकी बातपर कभी ध्यान ही नहीं दिया ; यहाँ तक कि नायबके आगे कानूनके विषयमें अपनी अज्ञता स्वीकार करनेमें भी उसे कभी संकोच नही हुआ , और नायब इसे फकत एक चालाकी समझ कर रह जाते। इस तरह दो साल बीत गये।

फिलहाल एक उद्दण्ड प्रजाको काबूमें लाना जरूरी हो गया है। एक दिन नायब साहब उसके नाम भिन्न-भिन्न जिलोंसे भिन्न-भिन्न अपराध और दावेके मामले दायर करनेका अभिप्राय प्रकट करके शशिभूषणसे अपनी सलाह देनेके लिए बहुत ज्यादा आग्रह करने लगे। शशिभूषणने सलाह देना तो दूर रहा, शान्त किन्तु दृढताके साथ हरकुमारको ऐसी दो-चार बातें कह दी कि उन्हे वे जरा भी मीठी नही लगी।

और इधर, और-एक मामलेमें भी वे प्रजासे नहीं जीत सके। उनके मनमें दृढ़ धारणा बैठ गई कि शशिभूषणने जरूर उस नालायककी सहायता की है। और उन्होने प्रतिज्ञा कर ली कि 'ऐसे आदमीको जैसे भी बने जल्दसे जल्द गाँवसे निकाल बाहर करना है।'

शशिभूषणने देखा कि कभी उसके खेतमें बैल घुस जाते हैं तो कभी कही आग लग जाती है, कभी खेतकी हदको लेकर झगडा लग जाता है तो कभी रिआया लगान देनेसे इन्कार करती है और उलटे उसीके नाम झूठा मुकदमा चलानेकी धमकी देती है ! यहाँ तक सुननेमें आने लगा कि शामके अँधेरेमे पा जाय तो फलाँ आदमी उसे मारे बगैर न छोडेगा, और रातको उसके घरमे आग लगा देगा !

अन्तमें शान्तिप्रिय निरीहप्रकृति शशिभूषण गाँव छोडकर कलकत्ता भागनेका आयोजन करने लगा।

उस दिन शशिभूषण यात्राकी तैयारी कर ही रहा था कि इतनेमें सुना कि गाँवमें जॉयेण्ट-मजिस्ट्रेट साहबका डेरा पड़ा है। बरकदाज सिपाही खानसामा कुत्ता घोड़ा सईस भङ्गी चमारोंसे गाँव चंचल हो उठा। गाँवके लड़कोंका झुंड शंकित कुतूहलसे साहबके तम्बूके आस-पास चक्कर काटने लगा।

नायब साहबने बाकायदा खातिरदारी-खाते खर्च लिखकर साहबकी

खिदमतमें मुरगी अंडे घी दूध वगैरह-वगैरह भेजना शुरू कर दिया। जॉयेन्ट साहबके लिए जितनी रसदकी जरूरत थी, नायब साहब बड़ी खुशीसे उससे बहुत ज्यादा भेजते रहे। किन्तु उसके उपरान्त भी साहबके भंगीने जब आकर सवेरे-सवेरे कुत्तेके लिए एकदम चार सेर घीके लिए हुक्म सुनाया, तब, दुष्टग्रहका ऐसा फेर कि नायब साहबसे सहन नहीं हुआ; और भंगीको उपदेश दिया कि 'साहबका कुत्ता यद्यपि देशी कुत्तेकी अपेक्षा बहुत ज्यादा घी बिना परितापके हजम कर सकता है, फिर भी इतना ज्यादा स्नेह-पदार्थ उसके स्वास्थ्यके लिए कल्याणजनक नहीं होगा।' और उसे घी नहीं दिया।

भंगीने जाकर साहबसे कह दिया कि 'कुत्तेके लिए मांस कहाँ मिलेगा यह जाननेके लिए वह नायबके पास गया था, लेकिन वह जातका भंगी होनेसे नायबने उसे बेइज्जतीके साथ सबके सामने निकाल बाहर कर दिया, यहाँ तक कि साहबके प्रति भी उपेक्षा दिखानेमें कोई कसर नहीं रखी।'

एक-तो वैसे ही ब्राह्मणका जात्याभिमान साहब लोगोंके लिए सहज ही असह्य है, उसपर उनके भंगीकी बेइज्जती करनेकी हिम्मत की गई, इससे वे सहसा आपेसे बाहर हो गये; और उसी वक्त चपरासीको बुलाकर हुक्म दिया—"बुलाओ नायबको!"

नायब काँपते-हुए कलेवरसे श्रीदुर्गाका नाम जपते-जपते साहबके तम्बूके सामने हाजिर हुए। साहब बूट चरमराते-हुए तम्बूसे निकले और बड़े जोरसे बिगड़कर नायबसे बोले—"टुम काहे वास्ते हमारा बंगीको ऐसा बेइज्जट किया?"

हरकुमारने अत्यन्त घबराहट और विनयके साथ हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि साहबके भंगीके साथ बुरा बरताव करनेकी हिम्मत भला वे कैसे कर सकते थे! कुत्तेके लिए चार सेर घीका हुक्म सुनकर उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा था कि इतना घी उसके लिए नुकसानदे हो सकता है; और उसी वक्त घीके लिए उन्होंने आदमी भेज दिया था।

साहबने उसी वक्त जवाब तलब किया कि 'किसे भेजा गया है और कहाँ भेजा गया है?'

हरकुमारने तुरत एक नाम बता दिया। इसपर साहबने उक्त नामके आदमीका और वह कहाँ घी लेने गया है उस गाँवमें जाकर पता लगानेका हुक्म दिया ; और नायबको तम्बूमें बिठा रखा।

दूतोंने करीब तीसरे पहर आकर साहबको खबर दी कि घी लानेके लिए कहीं भी किसीको नही भेजा गया। साहबको विश्वास हो गया कि नायबकी सब बात झूठ है और भंगीने जो-कुछ कहा है, बिलकुल ठीक है। तब फिर साहबने गुस्सेमें गरजकर भंगीको बुलाके कहा—"इस शालाको कान पकड़के टम्बूका टमाम टरफ घोरादौर करायेगा !" भंगीने जरा भी देर न करके उसी वक्त सबके सामने साहबके हुक्मकी तामील की।

देखते देखते सारे गॉवमें बात फैल गई। और हरकुमार घर आकर अन्न-जल त्यागकर मुमूर्षुवत् पड रहे।

जमीदारीके कामकी वजहसे नायबके दुश्मन बहुत थे, और वे इस घटनासे अत्यन्त आनन्दित हुए, किन्तु कलकत्ता जानेको तैयार शशिभूषणने जब यह बात सुनी तो उसका खून खौल उठा। रात-भर उसे नीद नहीं आई।

दूसरे दिन सवेरे वह हरकुमारके घर पहुँचा। हरकुमार उसका हाथ पकडकर व्याकुल होकर रोने लगे। शशिभूषणने कहा—"साहबके खिलाफ मानहानिका मामला दायर करना है, मै आपकी तरफसे पैरवी करूगा।"

स्वयं मजिस्ट्रेटके नाम मुकदमा दायर करनेकी बात सुनकर हरकुमार डर गये। किन्तु शशिभूषणने उनका पिण्ड नही छोडा।

हरकुमारने सोचकर जवाब देनेके लिए समय लिया। किन्तु बादमें जब देखा कि बात चारो तरफ फैल गई है और दुश्मन लोग खुशियाँ मना रहे हैं, तब फिर उनसे न रहा गया। अन्तमे शशिभूषणके घर जाकर उन्होंने कहा—"भाई, तुम व्यर्थ ही गॉव छोडकर कलकत्ता जानेकी तैयारी कर रहे हो। ऐसा हरगिज नहीं हो सकता। तुम्हारे जैसा आदमी गॉवमे रहे तो हमारी कितनी हिम्मत बढती है ! कुछ भी हो, अब तो तुम्हें इस घोर अपमानसे मेरा उद्धार करना ही पड़ेगा।"

४

जो शशिभूषण हमेशासे अपनेको लोक-दृष्टिसे बचाकर घरके एक कोनेमें छिपाये रखता था, वही आज अदालतमें जा खड़ा हुआ। मजिस्ट्रेटने उसकी नालिश सुनकर उसे अपने प्राइवेट चेम्बरमें बुलाया ; और बड़ी खातिरदारीके साथ कहा—"शशि-बाबू, इस मामलेको आपसमें मिटा लेना क्या अच्छा नहीं है ?"

शशि-बाबूने टेबिलपर पड़ी-हुई एक कानूनी किताबकी जिल्दपर अपनी कुंचित-भ्रू क्षीण दृष्टि डालते हुए कहा—"अपने मुवक्किलको मै ऐसी सलाह नहीं दे सकता। वे अपने गाँवके सबके सामने अपमानित हुए हैं, आपसमें गुपचुप इसका फैसला कैसे हो सकता है !"

साहब दो-चार बात कहने-सुननेके बाद समझ गये कि इस स्वल्पभाषी स्वल्पदृष्टि आदमीको आसानीसे विचलित करना सम्भव नही ; और बोले—"ऑल राइट, बाबू, देखें कहाँ तक क्या होता है !"

इसके बाद मजिस्ट्रेटने मामलेकी लम्बी तारीख डाल दी, और कुछ दिन बाद खुद दौरेपर निकल पड़े।

इधर जॉयेण्ट मजिस्ट्रेटने जमींदारको चिट्ठी लिख दी कि 'तुम्हारे नायबने हमारे नौकरकी बेइज्जती करके मेरे प्रति अवज्ञा प्रकट की है ; आशा है, तुम इसका समुचित प्रतिकार करोगे।'

जमीदार बहुत ही घबरा गये ; और तुरत नायबको बुलवाया। नायबने शुरूसे आखिर तक सारा किस्सा कह सुनाया। सुनकर जमीदार बहुत ही नाराज हुए, और बोले—"साहबके भंगीने चार सेर घी मागा था तो तुमने उसी वक्त उसे घी दे क्यों नही दिया ? उसमे तुम्हारे बापका क्या खर्च होता था ?"

हरकुमार अस्वीकार न कर सके कि उसमें उनकी पैत्रिक सम्पत्तिका कुछ भी नुकसान नहीं होता। और अपराध स्वीकार करके बोले—"मेरे ग्रह ही खराब थे, नही तो ऐसी बुद्धि ही क्यो होती !"

जमींदारने कहा—"उसपर फिर साहबके नाम नालिश करनेकी तुमसे किसने कही थी ?"

हरकुमारने कहा—"धर्मावतार, नालिश करनेका मेरा कतई विचार नहीं था,—गॉवमें एक वकील रहता है, शशिभूषण, उसे कोई मामला नहीं मिलता, उस छोकडेने जबरदस्ती मुझे इस आफतमें फंसा दिया।"

सुनकर जमीदार शशिभूषणपर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। और समझ गये कि जरूर वह बेवकूफ नया वकील है और इस तरहका बखेडा खड़ा करके अपनी प्रसिद्धि करना चाहता है। नायबको हुक्म दिया कि 'फौरन मामला उठा लिया जाय, और छोटे-बडे दोनो मजिस्ट्रेट साहबोंको शान्त किया जाय।'

नायब तरह-तरहके फल-मूल और शीतल भोग्य वस्तुओंका उपहार लेकर जॉयेण्ट मजिस्ट्रेट साहबके घर पहुँचे। और साहबसे अर्ज की कि 'साहबके नाम मामला दायर करनेकी उनकी कतई मंशा नही थी ; गॉवमे एक बेवकूफ छोकड़ा नया-नया वकील बनकर आया है, उसीकी शरारतसे ऐसी अनहोनी बात हो गई है, इत्यादि इत्यादि।' साहब शशिभूषणपर बहुत ही खफा हुए ; और नायबपर खुश होकर बोले—"हम गोस्सामें आ गया, टुमको टकलीफ डिया, अब हमको आपषोश होटा है।" साहबने हिन्दुस्थानी भाषाकी परीक्षा पास करके हाल ही मे पुरस्कार पाया है, और अब वे नेटिव लोगोंसे हिन्दुस्थानीमे ही बात करते हैं।

नायबने कहा—"हुजूर, मा-बाप कभी नाराज होकर सजा भी देते हैं, कभी खुश होकर प्यार भी करते हैं, इसमें बच्चे या मा-बापके लिए अफसोसकी कोई बात नही।"

इसके बाद जॉयेण्ट साहबके सब नौकरोंको यथायोग्य पारितोषिक देकर हरकुमार दौरेपर गये-हुए मजिस्ट्रेट साहबसे मिलने गये। मजिस्ट्रेट उनके मुंहसे शशिभूषणकी हिमाकतकी बात सुनकर बोले—"मुझे भी बड़ा ताज्जुब हो रहा था कि नायब-बाबू भले आदमी हैं, भला वे पहले मुझे न जताकर अचानक मामला करने कैसे चल दिये! मै तो शुरूमें ही समझ गया था कि ऐसा हरगिज नही हो सकता। अब सब समझमें आ रहा है।" और

अन्तमें पूछ उठे—'अच्छा, शशी क्या कांग्रेसका आदमी है क्या ?' नायवने बिना किसी हिचकिचाहटके कह दिया—"जी हाँ।"

साहब अपनी साहबी बुद्धिसे तुरत समझ गये कि 'यह सब कांग्रेसकी चाल है। कोई एक बखेड़ा खडा करके अमृतबाजार-पत्रिकामें सरकारके खिलाफ प्रॉपेगैण्डा करनेके लिए कांग्रेसने चारो तरफ अपने छोटे-छोटे चेलोंको छोड़ रखा है और वे ही इस तरहकी साजिशें किया करते हैं।' और, इन-सब क्षुद्र कंटकोंको एकसाथ दमन करनेका मजिस्ट्रेटोंके हाथमें पूरा अधिकार नहीं दिया गया, इसके लिए भारत-सरकारको बहुत ही कमजोर समझकर मन-ही-मन उसे बहुत धिक्कारा। और साथ ही कांग्रेसवाले शशिभूषणका नाम अपने ध्यानमें रख लिया।

५

संसारके बडे-बड़े मामले जब प्रबलरूपसे अंकुरित होते रहते हैं तब छोटी-छोटी बातें भी अपनी भूखी जडोंको लेकर जगतपर अपना अधिकार फैलानेसे बाज नहीं आती।

शशिभूषण जब इस मजिस्ट्रेटके झगड़ेको लेकर बहुत ज्यादा व्यस्त था, यानी विस्तृत पोथी-पत्रा खोलकर जब वह कानूनी दाव-पेच निकाल रहा था, अदालतमें कहनेके लिए मन-ही-मन अपने वक्तव्यको पैना रहा था, अपनी कल्पनामें गवाहोंसे जिरह कर रहा था और काल्पनिक अदालतकी भीड़के समक्ष अपना वक्तव्य पेश करता-हुआ क्षण-क्षणमें अपने कम्पित हाथोंसे माथेका पसीना पोंछ रहा था, तब उसकी छोटी-सी छात्रा कभी अपनी फटी-हुई किताब और स्याहीसे भरी कापी, कभी बगीचेके फल-फूल तो कभी माके भण्डारसे चुराया-हुआ अचार, कभी मिठाई तो कभी घरकी बनी और-कोई चीज ले-लेकर नियमित समयपर उसके दरवाजेपर हाजिर हुआ करती थी।

पहले कुछ दिन तक उसने देखा कि शशिभूषण बिना-तसवीरकी एक बड़ी-भारी किताब खोलकर बड़े ध्यानसे उसके पन्ने उलट रहा है। इसके पहले वह जो किताब पढ़ता था, उसमेंसे कुछ-न-कुछ उसे भी समझानेकी

कोशिश करता था, किन्तु अब क्या हो गया ! इन बड़ी किताबोंमें क्या उसके समझने-लायक कोई बात ही नही लिखी ? खैर, न सही, पर किताब अब इतनी बड़ी हो गई कि गिरिबाला उसके आगे कोई चीज ही नहीं रही !

पहले तो, गुरुका ध्यान आकर्षित करनेके लिए गिरिबालाने गानेके सुरमें पाठ याद करना शुरू किया, फिर वेणी-सहित अपनी देहका उपरी हिस्सा हिलाते हुए जोर-जोरसे पढना शुरू कर दिया ; किन्तु जब देखा कि इससे कोई विशेष फल नही हुआ, तो वह काली जिल्दवाली मोटी किताबपर मन-ही-मन नाराज हो उठी। उसे वह एक कुत्सित कठोर निष्ठुर आदमीके रूपमें देखने लगी। जो किताब गिरिबालाको बालिका समझकर उसकी इस तरह अवज्ञा कर रही है उसे अगर कोई चोर चुरा ले जाता, तो वह उसे माके भण्डारसे अच्छीसे अच्छी चीज चुराकर पुरस्कार दे सकती थी। आखिरे उस किताबके नाशके लिए वह मन-ही-मन भगवानसे ऐसी-ऐसी असंगत और असम्भव प्रार्थना करने लगी कि भगवानने भी सुनना पसन्द नहीं किया ; लिहाजा पाठकोंको सुनाना भी व्यर्थ है।

आखिर व्यथित-हृदय बालिकाने दो-चार दिन किताब लेकर गुरुके घर जाना बन्द रखा। और उन दो-चार दिनोंके विच्छेदका नतीजा देखनेके लिए वह और-किसी बहानेसे शशिभूषणकी बैठकके सामने पहुंची ; और कनखियोसे देखा कि शशिभूषण काली मोटी किताब छोड़कर खिड़कीके सीखचोंके प्रति विदेशी भाषामें वक्तृताका प्रयोग कर रहा है। लोहेके सीखचोंपर शायद मजिस्ट्रेटके मनपर असर डालनेकी पद्धतिकी परीक्षा की जा रही थी। संसारसे अनभिज्ञ ग्रन्थ-विहारी शशिभूषणकी धारणा थी कि प्राचीनकालमे डिमॉस्थिनीस, सिसीरो, बर्क, शेरिडन आदि वाग्मीगण जो असाधारण कार्य कर गये हैं, उन लोगोंने जैसे शब्दभेदी बाण चलाकर अन्यायको छिन्नभिन्न, अत्याचारको लाछित और अहंकारको धूलमें मिला दिया था, आजके दुकानदारीके दिनोंमें भी वैसा किया जा सकता है। प्रभुत्व-मदसे गर्वित उद्धत अंग्रेजोंको कैसे वह जगतके सामने लज्जित और अनुतप्त करेगा, तिलकुची गाँवके टूटे-फूटे घरमें खड़ा-खड़ा वह उसीका अभ्यास

कर रहा था । आकाशके देवता उसकी इस करतूतको देखकर हँस रहे थे या उनकी आँखोमें आँसू भर आये थे, यह कौन कह सकता है !

उस दिन गिरिबाला उसे नजर न आई। उस दिन बालिकाके आँचलमें जामुन नहीं थे ; शशिभूषणने पहले एक बार उसे जामुनकी गुठली फेंकते-हुए देख लिया था, तबसे उक्त फलके सम्बन्धमें वह बहुत ही संकुचित रहने लगी है। यहाँ तक कि शशिभूषण अगर किसी दिन निरीहभावसे भी पूछता कि 'गिरी, आज जामुन नही लाई ?', तो उसे वह उपहास समझकर मारे शरमके भागनेका रास्ता ढूंढने लगती। जामुनकी गुठलीके अभावमें आज उसे एक नई तरकीब अख्तियार करनी पडी। सहसा दूरकी तरफ देखती-हुई जोरसे बोल उठी—"सोना बहन, जरा ठहर जा, मै अभी आई !"

पुरुष पाठक सोचेंगे कि बात स्वर्णलता नामकी किसी दूरवर्तिनी संगिनीको लक्ष्य करके कही गई है ; किन्तु पाठिकाएं सहज ही समझ जायेंगी कि दूर कही कोई नही था, लक्ष्य अत्यन्त निकट ही है। किन्तु हाय, अन्धे पुरुषके प्रति उसका लक्ष्य भ्रष्ट हो गया। शशिभूषणने सुना न हो सो बात नही, पर वह उसका मर्म नही समझ सका। उसने सोचा कि लड़की सचमुच ही सखीके साथ खेलनेको उत्सुक है ; और उस दिन उसे खेलसे छुड़ाकर पढनेमें लगानेका उसमें अध्यवसाय भी नही था। कारण, वह भी उस दिन किसी एक हृदयकी तरफ लक्ष्य करके तीक्ष्ण वाण छोड रहा था। बालिकाके छोटे हाथोका साधारण लक्ष्य जैसे व्यर्थ गया, उसके शिक्षित हाथोका महान लक्ष्य भी उसी तरह व्यर्थ गया, – पाठकोको इस बातका पहलेसे ही पता लग चुका है।

जामुनकी गुठलियोंमें एक गुण यह है कि एक-एक करके बहुत-सी फेंकी जा सकती हैं, चार व्यर्थ जानेपर कमसे कम पाँचवी ठीक जगह जाकर लग सकती है। किन्तु 'सोना' चाहे जितनी ही काल्पनिक क्यों न हो, उसे 'अभी आई' की आशा देकर ज्यादा देर तक खड़ा नही रहा जा सकता। और खड़ा रहनेसे 'सोना' के सम्बन्धमें लोगोंको स्वभावत सन्देह हो सकता है। लिहाजा, यह तरीका ज्यो ही निष्फल हुआ त्यों ही गिरिबालाको वहाँसे चला

जाना पड़ा। फिर भी, 'सोना' नामकी किसी दूरवर्तिनी सहचरीके संग-लाभकी अभिलाषा आन्तरिक होनेपर जैसे उत्साह और तेजीसे कदम बढने चाहिए थे, गिरिबालाकी गतिमें वैसा कोई लक्षण देखनेमें नहीं आया। मानो वह अपनी पीठसे अनुभव करनेकी कोशिश कर रही थी कि पीछेसे कोई आ रहा है या नहीं। और जब निश्चित समझ गई कि कोई नही आ रहा, तब उसने आशाके अन्तिम बचेखुचे क्षीणतम भग्नांशको लेकर पीछेको मुड़के देखा; और किसीको भी न आते देख उसने अपनी क्षुद्र आशा और शिथिलपत्र 'कन्या-बोधिनी'के टुकड़े-टुकडे करके वहीं सड़कपर बखेर दिये। शशिभूषणने उसे जितनी विद्या दी थी उसे अगर वह किसी तरह फेर दे सकती, तो शायद परित्याज्य जामुनकी गुठलीकी तरह उसे वह जरूर उसके दरवाजेपर जोरसे पटककर चली आती। बालिकाने प्रतिज्ञा की कि शशिभूषणके साथ भेंट होनेके पहले ही वह पढना-लिखना सब भूल जायगी और उसके किसी भी सवालका जवाब नहीं देगी। एकका भी नहीं। तब? तब शशिभूषणके होश ठिकाने आ जायेंगे!

गिरिबालाकी आँखोंमें आँसू भर आये। पढना-लिखना भूल जानेसे शशिभूषणको कैसा तीव्र अनुताप होगा, इस बातकी कल्पना करके उसके पीडित हृदयको थोड़ी-बहुत सान्त्वना मिली, और सिर्फ शशिभूषणके दोपसे पढ़ना-भूली-हुई उस अभागिनी भावी गिरिबालाकी कल्पना करके उसे अपने ही प्रति करुणा आने लगी। आकाशमें बादल इकट्ठे होने लगे। वर्षाऋतुमे ऐसा अकसर हुआ करता है। गिरिबाला सडकके किनारे एक पेड़की ओटमें खड़ी होकर मारे अभिमानके सिसक-सिसककर रोने लगी। ऐसा अकारण रोना प्रतिदिन न-जाने कितनी बालिकाएँ रोया करती हैं! उसमे ऐसी कोई खास बात नहीं जिसपर ध्यान दिया जाय।

६

शशिभूषणकी कानून सम्बन्धी गवेषणा और भाषण-चरचा किस वजहसे व्यर्थ हो गई, यह बात पाठकोंसे छिपी नहीं। मजिस्ट्रेटके नामका मामला

अकस्मात् निबट गया। हरकुमार अपने जिलेके आनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हो गये। और आजकल वे प्रायः मैली अचकन और पगड़ी पहनकर जिलेके साहब लोगोंको सलाम करने जाया करते हैं।

शशिभूषणकी काली जिल्दवाली उस मोटी किताबपर इतने दिनों बाद गिरिबालाका श्राप फलने लगा है; बेचारी घरके किसी अँधेरे कोनेमें निर्वासित होकर धूलमें मिली जा रही है। किन्तु उसका अनादर देखकर जो बालिका आनन्दित होगी वह गिरिबाला कहाँ है?

शशिभूषण पहले जिस दिन अपनी कानूनकी किताब बन्द करके तख्तपर आरामसे बैठा, उसी दिन सहसा उसे खयाल आया कि गिरिबाला नहीं आई! तब एक-एक करके पिछले कुछ दिनोंका इतिहास उसे याद आने लगा। याद आया, एक दिन उज्ज्वल प्रभातमें गिरिबाला अपने आँचलमें भरकर नववर्षासे भीगे-हुए बकुल-फूल लाई थी। उसे देखकर भी जब उसने किताबसे नजर नहीं उठाई, तब बालिकाके उच्छ्वासमें सहसा रुकावट आ गई। उसने अपने आँचलमें बिंधा हुआ सुई-डोरा निकाला, और सिर झुकाकर एक-एक फूल उठाकर माला गूंथने लगी। माला बहुत ही धीरे-धीरे गूंथी गई और बहुत ही देरमें पूरी हुई। बहुत अबेर हो गई, गिरिबालाका घर जानेका समय हो गया, फिर भी शशिभूषणका पढ़ना खतम नहीं हुआ। अन्तमें वह बहुत ही उदास होकर माला तख्तपर रखकर घर चली गई। फिर उसे याद आया, उसका रूठना दिनपर दिन कैसा घना होता जा रहा था! कब-कब वह आई और उसकी बैठकमें न घुसकर सामनेके रास्तेसे ही देख-भालकर चली गई; और अन्तमें कब उसने खिड़कीके सामने सड़कपर भी आना बन्द कर दिया,— उसे भी तो आज कितने दिन हो गये! गिरिबालाका अभिमान तो इतने दिन नहीं टिक सकता।

शशिभूषणने एक लम्बी साँस ली, और हतबुद्धि और बेकार-सा होकर दीवारसे पीठ लगाकर बैठ रहा। छोटी-सी छात्राके न आनेसे उसे अपने पाठ्य-ग्रन्थ अत्यन्त अरुचिकर-से लगने लगे। किताब उठाता और दो-चार पन्ने उलटकर पटक देता। लिखने बैठता तो लिखते-लिखते क्षण-क्षणमें

चौंककर सड़क और दरवाजेकी तरफ प्रतीक्षा-भरी दृष्टिसे देखता, और लिखना छोड़ देता।

उसे आशंका होने लगी कि कहीं वह बीमार तो नहीं पड़ गई। पता लगाया तो मालूम हुआ कि उसकी आशंका झूठी है। गिरिबाला आजकल घरसे बाहर नहीं निकलती। उसके लिए लड़का ठीक हो गया है और जल्द ही उसका ब्याह होनेवाला है।

गिरिबाला जिस दिन अपनी पुस्तक फाड़कर उसके फटे हुए पन्ने रास्तेमें डाल गई थी, उसके दूसरे ही दिन सवेरे वह अपने छोटे से आँचलमें विचित्र उपहार बाँधे जल्दी-जल्दी घरसे बाहर निकल रही थी। अत्यन्त गरम होनेसे निद्राहीन रात वितानेके बाद हरकुमार तब उघड़े-बदन चबूतरेपर बैठे तम्बाकू पी रहे थे। गिरिबालाको बाहर जाते देख वे पूछ बैठे—"कहाँ जा रही है?" गिरिबालाने कहा—"शशि भैयाके घर।" हरकुमारने डाटकर कहा—"नहीं, कहीं जानेकी जरूरत नहीं, घर जा।' और यह कहकर कि 'इतनी बड़ी हो गई, दो-चार दिन बाद ब्याह होनेवाला है, जरा भी शरम नहीं', उसका काफी तिरस्कार किया। उसी दिनसे उसका बाहर जाना बन्द हो गया। उसके बाद फिर उसे मौका ही नही मिला कि वह शशिभूषणको आकर जता जाती कि अब वह नाराज नहीं है। अमावट और नीबूका अचार आदि रुचिकर चीजें भण्डारमें वापस चली गईं। इसके बाद, वर्षा होने लगी, बकुल-फूल झरने लगे, अमरूदके पेड़ पके फलोंसे भर उठे, और पके मीठे जामुन डालियोंसे गिर-गिरकर पेड़ोंके नीचे जमा होने लगे। और, अपनी किताब तो वह पहले ही फाड़-फूड़कर फेंक चुकी थी।

७

गाँवमे गिरिबालाके दरवाजेपर जिस दिन ब्याहकी शहनाई बज रही थी, निमन्त्रित शशिभूषण उस दिन कलकत्ताके लिए रवाना हो रहा था।

मुकदमा उठा लेनेके बादसे हरकुमार शशिभूषणको विष-दृष्टिसे देखने लगे थे। कारण, वे मन-ही-मन समझ रहे थे कि शशिभूषण उनसे घृणा

करने लगा है। शशिभूषणके चेहरे और व्यवहारमें वे हजारों काल्पनिक चिह्न देखने लगे। और यह सोचकर कि 'गाँवके और सब लोग जब कि उनका अपमान-वृत्तान्त क्रमशः भूलते जा रहे हैं तब अकेला एक शशिभूषण ही उस बुरी स्मृतिको अपने मनमें जगाये हुए है', उन्हें वह फूटी-आँखों देखा न सुहाया। शशिभूषणसे भेंट होते ही उनके अन्तःकरणमें सलज्ज संकोच उपस्थित होता और साथ ही बड़ा जोरका गुस्सा आ जाता। अन्तमें फिर वे प्रतिज्ञा कर बैठे कि 'जैसे भी हो शशिभूषणका गाँव छुड़ा ही देना है।'

शशिभूषण जैसे आदमीका गाँव छुड़ा देना कोई मुश्किल काम नहीं। नायब साहबकी मंशा जल्द ही पूरी हो गई। एक दिन सवेरे पुस्तकोंका बोझ और दो-चार टीनके बक्स साथमें लेकर शशिभूषण नावपर बैठकर कलकत्ता रवाना हो गया। गाँवके साथ उसका जो एक सुखका बन्धन था वह भी आज समारोहके साथ टूट रहा है। सुकोमल बन्धनने उसके हृदयको कितनी मजबूतीसे बाँध लिया था, इस बातको वह पहले पूरी तरह न जान सका था। आज जब गाँवके घाटसे नाव छूट गई, गाँवके वृक्षोंकी चोटियाँ जब क्रमशः अस्पष्ट हो आई और विवाहोत्सवकी शहनाईकी ध्वनि जब क्षीणसे क्षीणतर होने लगी, तब सहसा आँसुओंकी भापसे उसका हृदय उफन उठा, गला रुँध आया, रक्तोच्छ्वासके वेगसे माथेकी नसें तन्ना उठीं और संसारके समस्त दृश्य उसे छाया-निर्मित मरीचिकाके समान अत्यन्त अस्पष्ट मालूम होने लगे।

प्रतिकूल हवा बहुत जोरसे बह रही थी, इसलिए स्रोत अनुकूल होनेपर भी उसकी नाव धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। इतनेमें नदीमे एक ऐसी दुर्घटना हो गई कि जिससे शशिभूषणकी यात्रामे विघ्न आ गया।

स्टेशन-घाटसे सदर महकमा तक हाल ही में एक नई स्टीमर लाइन चालू हुई थी। स्टीमर जोरोंसे अपने पंख चलाता-हुआ प्रवाहके विरुद्ध जा रहा था। जहाजमें नई-लाइनका नौजवान साहब मैनेजर और थोड़ेसे यात्री थे। यात्रियोंमें दो-एक शशिभूषणके गाँवके आदमी भी थे।

स्टीमरके साथ-साथ एक महाजनी नाव भी जा रही थी, जो कभी तेजीसे

चलकर जहाजके पास आ जाती थी और कभी जरा पिछड़ जाती थी। अन्तमें हुआ यह कि माझीके मनमें कुछ होड़की भावना-सी पैदा हो गई। उसने पहले पालके ऊपर दूसरा पाल और दूसरे पालके ऊपर तीसरा पाल तक चढा दिया। हवाके जोरसे लम्बा मस्तूल सामनेकी ओर झुक गया और विदीर्ण जलराशि नावके दोनों ओर कल-स्वरमे अट्टहास्य करती-हुई पागलकी तरह नाचने लगी। नाव तब बे-लगाम घोड़ेकी तरह जरा-सी जगह पाकर स्टीमरसे आगे निकल गई। मैनेजर साहब बड़े आग्रहके साथ रेलिंगपर झुकके नावकी इस होडको देख रहे थे। जब नाव पूरी तेजीके साथ जा रही थी और स्टीमरसे दो-चार हाथ आगे बढ चुकी थी, तब सहसा साहबने बन्दूक उठाकर नावके पालपर चला दी। उसी क्षण पाल फट गया, नाव डूब गई, और स्टीमर नदीके मुहानेमे मुड़कर आँखोंके ओझल हो गया।

मैनेजरने क्यों ऐसा किया, यह कहना कठिन है। अंग्रेज-नन्दनके मनका भाव हम भारतीय ठीक समझ नही सकते। शायद देशी पालकी होडको वह बरदाश्त न कर सका हो, शायद फूले-हुए पालको बन्दूककी गोलीसे क्षणमे विदीर्ण करनेमे कोई हिंस्र प्रलोभन हो, अथवा हो सकता है कि उस गर्वित नावके पालमे दो-चार छेद करके उसकी नौका-लीला समाप्त कर देनेमें कोई प्रबल पैशाचिक हास्यरस हो! निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह निश्चित है कि उस अंग्रेजके मनमे इतना विश्वास जरूर था कि इस मजाकके लिए उसे किसी तरहकी सजा नही भुगतनी पड़ेगी; और साथ ही यह धारणा भी थी कि जिनकी नाव गई और सम्भवत. प्राण भी गये, उनकी आदमियोमें गिनती नहीं हो सकती!

साहबने जब बन्दूक उठाकर गोली चलाई और नाव डूब गई, तब शशिभूषणकी सवारी-नाव घटनास्थलके पास जा पहुँची थी। शशिभूषणने नावको डूबते हुए देखा तो उसने तुरत नाव बढवाकर माझी और मल्लाहोंको अपनी नावमें उठा लिया। सिर्फ एक आदमी जो भीतर बैठा रसोईकी तैयारी कर रहा था, उसका पता नही चला। वर्षाकी नदी खूब जोरसे बह रही थी।

शशिभूषणके हृत्पिण्डमें गरम खून खौलने लगा। कानूनकी गति

अत्यन्त मन्द है। वह विराट और जटिल लौह-यन्त्रके समान है; तौल-तौलकर प्रमाण ग्रहण करता है और निर्विकार भावसे सजा देता है; उसमें मानव-हृदय जैसा उत्ताप नहीं। किन्तु भूखके साथ भोजनका, इच्छाके साथ उपभोगका और क्रोधके साथ दण्डका सम्बन्ध-विच्छेद कर देना शशिभूषणकी दृष्टिमें अस्वाभाविक ही मालूम हुआ। बहुतसे अपराध हैं जिन्हें देखते ही उसी क्षण अपने हाथसे उसकी सजा न दी जाय तो अन्तर्यामी विधाता-पुरुष मानो हृदयके भीतर आकर देखनेवालेको दग्ध करते रहते हैं। तब कानूनकी बात याद करके सान्त्वना प्राप्त करनेमें हृदय लज्जा अनुभव करता है। किन्तु मशीनका कानून और मशीनका जहाज मैनेजरको शशिभूषणसे दूर ले गया। इससे संसारके और क्या-क्या उपकार हुए थे सो तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस यात्रामें शशिभूषणकी भारतीय पिलही बाल-बाल बच गई थी।

माझी-मल्लाह जो बच गये थे, उन्हें लेकर शशिभूषण गाँव लौट आया। नावमें पाट लदा हुआ था, उस पाटके उद्धारके लिए आदमी तैनात कर दिये; और माझीसे जहाजके मैनेजरके खिलाफ अदालतमें दरख्वास्त देनेका अनुरोध किया।

माझी किसी भी तरह राजी नहीं हुआ। उसने कहा कि 'नाव तो डूब ही चुकी, अब मुझे क्यों डुबाते हैं! पहले तो पुलिसको दर्शनी देनी पड़ेगी; फिर काम-काज खाना-सोना छोड़कर अदालतके चक्कर काटने पड़ेंगे; और फिर साहबके खिलाफ नालिश करके कैसे फसादमें फँसना पड़े और उसका क्या नतीजा हो, सो भगवान ही जानें।' अन्तमें जब उसे मालूम हुआ कि शशिभूषण खुद वकील है, अदालतका खर्चा वह खुद उठायेगा और मामलेमें हर्जाना जरूर मिलेगा, तब वह राजी हो गया। मगर शशिभूषणके गाँवके लोग जो स्टीमरमें मौजूद थे, वे गवाही देनेके लिए किसी भी तरह तैयार नहीं हुए। उनलोगोंने कहा—"बाबू साहब, हमलोगोंने कुछ भी नहीं देखा; हम तो पीछेकी तरफ बैठे हुए थे, मशीन और पानीकी आवाजके आगे भला बन्दूककी आवाज कहाँ सुनाई दे सकती थी!"

आखिर अपने देशवासियोंको धिक्कार देकर शशिभूषणने खुद मामला दायर कर दिया।

गवाह-सबूतकी वहाँ कोई जरूरत ही नही पडी। मैनेजरने मंजूर कर लिया कि उसने बन्दूक चलाई थी। और कहा कि 'आकाशमें बगुलोंका एक झुंड उड़ रहा था, उन्हींकी तरफ लक्ष्य करके बन्दूक चलाई थी। स्टीमर उस समय पूरी तेजीसे चल रहा था, और उसी क्षण नदीके मुहानेमें मुड रहा था; इसलिए वह जान भी न पाया कि कौआ मरा या बगुला, पाल फटा या नाव डूबी! जमीन और आसमानमें इतनी शिकारकी चीजें मौजूद हैं कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति जान-बूझकर 'डर्टी रैग' यानी गन्दे कपड़ेके टुकड़ेपर एक छदामका भी छर्रा बरबाद नही कर सकता, बन्दूककी गोली तो दूर रही।'

साहब मैनेजर बेकसूर छूट गया; और चुरुट फूंकता-हुआ क्लबमें ह्विस्ट (ताश) खेलने चला गया। जो आदमी नावके भीतर बैठा रसोईकी तैयारी कर रहा था, घटनास्थलसे लगभग पाँच कोस दूर उसकी लाश किनारेसे जा लगी। और शशिभूषण अपने मनकी जलन लेकर गाँव लौट आया।

जिस दिन वह गाँवमें आया, ठीक उसी दिन फूल-पत्तियोंसे सजी-हुई नावमे बिठाकर गिरिबालाको ससुराल ले जाया जा रहा था। यद्यपि शशिभूषणको किसीने बुलाया नही था, फिर भी वह धीरे-धीरे नदी-किनारे पहुंच गया। घाटपर लोगोंकी भीड़ थी, इसलिए वहाँ न जाकर वह कुछ आगे जाकर खड़ा हो गया। नाव घाटसे छूटकर जब उसके सामनेसे चली गई तब क्षण-भरके लिए एक बार उसने देखा कि नववधू घूंघट डाले सिकुड़ी-हुई बैठी है। बहुत दिनोसे गिरिबालाको आशा थी कि गाँव छोडकर जानेके पहले किसी तरह वह एक बार शशिभूषणसे मिल लेगी, किन्तु आज वह जान भी न पाई कि उसके गुरु नजदीक ही कही खड़े हैं। उसने एक बार मुँह उठाकर देखा भी नही, सिर्फ चुपचाप रोती रही और उसके दोनो कपोलोंसे आँसू झरते रहे।

नाव क्रमशः दूर जाकर अदृश्य हो गई। नदीके पानीपर सवेरेकी घाम

चमकने लगी, पास ही आमकी डालीपर पपीहा उच्छ्वसित कंठसे बार-बार गा-गाकर अपने मनके आवेगको खतम न कर सका, पार जानेवाली नाव सवारी चढाकर उस पार जाने लगी, स्त्रियाँ घाटपर पानी भरने आईं और उच्च-कलस्वरमें गिरिबालाकी सुसराल-विदाकी चरचा करने लगीं। और शशिभूषण चश्मा उतारकर आँखें पोंछता हुआ अपने घर जाकर सड़कके किनारेवाली बैठकमें बैठ गया। सहसा उसे गिरिबालाकी आवाज सुनाई दी, "शशी भइया!" — कहाँ है री, कहाँ है तू? कहीं भी नहीं! उस घरमें नहीं, उस सडकपर नही, उस गाँवमें नही, — हो तो उसके आँसुओंसे भीगे हृदयमें भले ही हो।

८

शशिभूषण फिर अपनी चीज-वस्त बाँधकर कलकत्ता रवाना हो गया। कलकत्तामें कोई काम नहीं था; और वहाँ जानेका कोई खास उद्देश्य भी नहीं; इसलिए रेलसे न जाकर उसने बराबर नावसे जाना ही तय किया।

बरसातके दिन थे। बंगाल-भरमें चारों तरफ छोटे-बड़े जलमय जाल फैले हुए थे। सरस श्यामला वंगभूमिकी शिरा-उपशिराएँ ऐसी परिपूर्ण हो उठी थीं कि पेड-पौधों और घास-पात ईख आदिसे दशों दिशाओंमें उसके उन्मत्त यौवनका प्राचुर्य मानो उद्दाम उच्छृंखल हो उठा था।

शशिभूषणकी नाव उन-सब संकीर्ण वक्र जलस्रोतमेंसे चलने लगी। पानी तब दोनो तटोके बराबर हो गया था। काँस और नरकटके जंगल और कहीं-कहीं धानके खेत पानीमें डूब गये थे। गाँवकी मेड़ें, बाँसके झाड़ और आमके बगीचे बिलकुल पानीके किनारे आ खड़े हुए थे। मानो देवकन्याओंने वंगभूमिके समस्त पेड़-पौधोके आलबालोंको जल सींचकर भर दिया हो।

यात्राके आरम्भ-कालमें स्नान-चिक्कण वनश्री सूर्य-किरणोंसे उज्ज्वल हास्यमय थी, किन्तु थोड़ी देर बाद ही बादल घिर आये और वर्षा शुरू हो गई। तब फिर जिधर पानी पड़ने लगा उधर ही विषण्णता और गंदगी दिखाई देने लगी। बाढ आनेपर गायें जैसे जल-वेष्टित मलिन संकीर्ण

गोष्ठ-प्राङ्गणमें भीड़ किये-हुए करुण-नेत्र और सहिष्णु-भावसे खड़ी होकर श्रावणकी वर्षाधारामें भीगती रहती हैं, वंगभूमि भी ठीक वैसे ही अपने कर्दम-पिच्छिल घन-सिक्त रुद्ध जंगलमे मूक विपण्ण और व्यथित होकर लगातार भीगने लगी। गाँवके किसान माथेपर 'टोका' (ताड़पत्रकी छतरी) लगाये इधरसे उधर जा-आ रहे है; स्त्रियाँ वरसातकी ठंडी हवासे सिकुड़कर भीगती-हुई एक झोंपड़ीसे दूसरी झोंपडीमे जाकर अपना काम-काज कर रही हैं और फिसलनवाले घाटपर अत्यन्त सावधानीसे पैर रखती-हुई पानी भर रही है ; और गृहस्थ पुरुष चौपार-चबूतरोंपर बैठे तम्बाकू पी रहे हैं। कोई वहुत ही जरूरी काम होता है तो लोग घरसे वाहर निकलते हैं, नही तो नहीं।

वर्षा जब किसी तरह नही थमी, तव बन्द नावमें शशिभूषणका जी ऊब गया ; और उसने फिर रेलसे जाना तय किया। एक जगह चौडा मुहाना पडा और वहीं नाव बँधवाकर शशिभूषण भोजनकी तैयारी करने लगा।

लँगड़ेका पाँव गड्ढेमें ही पड़ता है , और इसमे सिर्फ गड्ढेका ही दोष नही, लँगडे पैरका भी दोष है। और, शशिभूषणने उस दिन इसका सबूत भी दे दिया।

नदीके मुहानेमे, जहाँ दो नदियाँ मिली हैं, मछुओंने बाँस बाँधकर बडा-भारी जाल डाल रखा था। सिर्फ एक वगल नाव जाने-आनेके लिए थोड़ी-सी जगह छोड दी थी। वहुत दिनोसे वे ऐसा करते आये हैं और इसके लिए वे सरकारको कुछ देते भी हैं। दुर्भाग्यवश इस साल उस रास्तेसे अचानक जिलेके पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट बहादुरका शुभागमन हुआ। उनका बोट आते देख मछुओंने पहलेसे, बगलसे निकलनेका रास्ता वताते हुए, ऊँची आवाज लगाकर सावधान कर दिया। किन्तु मनुष्य-रचित किसी बाधाके प्रति सम्मान प्रदर्शन करके घूमके जानेकी साहवके माझीको आदत नहीं थी। उसने जालके ऊपरसे ही बोट चला दिया। जालने झुककर बोटके लिए रास्ता दे दिया, लेकिन पतवार उलझ गई। कुछ देर और कोशिशके वाद पतवार तो सुलझा ली गई ; किन्तु पुलिस-साहब मारे गुस्सेके लाल-ताते हो उठे ; और तुरत बोट रुकवा दिया। उनकी मूर्ति देखते ही बेचारे

मछुए साँस रोकके भाग खड़े हुए। साहबने अपने मल्लाहोंको हुक्म दिया कि 'जाल काट डालो !' साहबका हुक्म पाते ही बोटके मल्लाहोंने तुरत उस सात-आठ सौ रुपयेके विराट जालको काटकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

जालपर गुस्सा उतारनेके बाद फिर उन मछुओंको पकड़ लानेका हुक्म दिया गया। सिपाही भागे-हुए मछुओंकी तलाशमें कुछ दूर तक गये ; और उन्हें न पाकर उनके बदले, जो सामने मिले उन्हींमेंसे, चार आदमियोंको पकड़ लाये। उनलोगोंने हाथ जोड़कर दुहाई खाकर बहुत कहा कि वे बिलकुल बेकसूर हैं ; लेकिन काले-आदमियोंकी बातपर वहाँ कौन ध्यान देता है ! पुलिस-साहब जब उन निरपराध बन्दियोंको साथ ले चलनेका हुक्म दे रहे थे, ठीक उसी समय शशिभूषण झटपट नाकपर चश्मा और बदनपर कुड़ता डालकर, बिना बटन लगाये ही, जूतियाँ चटकाता-हुआ दौड़ा-दौड़ा बोटके सामने जा खड़ा हुआ ; और काँपते हुए कण्ठसे बोला—"सर, मछुओंका जाल काटने और इन चार जनोंपर जुल्म करनेका आपको कोई अख्तियार नहीं !"

पुलिस-साहबके मुंहसे अपने तईं एक खास असम्मानकी बात सुनते ही उसी क्षण वह कुछ-ऊँचे किनारेसे बोटपर कूदकर एकदम साहबके ऊपर जा पड़ा, और क्रुद्ध बालककी तरह, पागलकी तरह, साहबको मारने लगा।

उसके बाद फिर क्या हुआ, उसे होश नहीं। थानेमें जब उसकी आँख खुली तब, कहनेमें संकोच भी होता है और शरम भी आती है, उसके प्रति जैसा व्यवहार किया गया, उससे उसे जरा भी मानसिक सम्मान या शारीरिक आराम नहीं मालूम हुआ।

६

शशिभूषणके पिताने वकील-बैरिस्टर लगाकर पहले तो जमानत देकर लड़केको हाजतसे छुड़ाया। उसके बाद मुकदमेकी तैयारियाँ करने लगे।

जिन मछुओंका जाल काटकर बरबाद किया गया था वे शशिभूषणके ही परगनाके रहनेवाले हैं। संकटके समय कभी-कभी वे शशिभूषणसे कानूनी सलाह लेने भी आया करते थे। और जिन्हे साहब अपने बोटमें पकड़ लाये थे वे भी शशिभूषणको जानते थे।

शशिभूषणने उन सबको बुलाया और कहा कि उन्हे गवाही देनी होगी। सुनकर सबके सब घबरा उठे। बोले, वे बाल-बच्चेवाले आदमी ठहरे, पुलिससे झगडा मोल लेना उनके बूतेका काम नहीं। एक देहमें दो प्राण किसके हैं? जो नुकसान होनेवाला था सो तो हो ही चुका, अब गवाही-अवाहीके चक्करमें पडकर नया नुकसान कौन उठाये!

काफी कहने-सुननेके बाद उनलोगोने सच बात कहना स्वीकार कर लिया।

इस बीचमें हरकुमार एक दिन किसी कामसे जिलेके साहबोको सलाम देने गये; और तब पुलिस-साहबने हंसकर कहा—'नायब बाबू, सुना है तुम्हारी रिआया पुलिसके खिलाफ झूठी गवाही देनेकी तैयारियाँ कर रही है?"

नायब चौंककर बोले—"एँ! ऐसा भी कभी हो सकता है! अपवित्र जानवरके बच्चोकी हड्डीमें इतनी ताकत!"

संवादपत्र पढनेवालोको मालूम है कि मुकदमेमें शशिभूषणका पक्ष कतई नहीं टिक सका।

एक-एक करके सभी मछुओंने आकर कहा, 'पुलिस-साहबने उनका जाल नहीं काटा। बोटपर बुलाकर वे उनलोगोंका नाम-धाम लिख रहे थे।' सिर्फ इतना ही नहीं, शशिभूषणके देशके चार-छै परिचित आदमियोंने आकर गवाही दी कि 'वे उस समय एक बारातके साथ जा रहे थे और रास्तेमें उनके सामने यह बात हुई कि शशिभूषण बेमतलब साहबके सिपाहियोंपर उपद्रव कर रहा था।'

ऐसी हालतमें अदालतसे जो शशिभूषणको कैदकी सजा दी गई, उसे अन्याय नही कहा जा सकता। अलबत्ता, सजा जरा-कुछ ज्यादा ही हुई। तीन-चार मामले थे, – चोट पहुँचाना, अनधिकार प्रवेश, पुलिसके कर्तव्यमे बाधा, इत्यादि; और सभी उसके खिलाफ प्रमाणित हो गये।

शशिभूषण अपनी उस छोटी-सी बैठकमे अपनी प्रिय पाठय-पुस्तकें छोडकर पाँच सालकी कैद भुगतने चला गया। उसके पिता अपील करनेको तैयार हुए, तो उनसे शशिभूषणने मना कर दिया, कहा—"जेल अच्छी! लोहेकी

बेड़ियाँ झूठ नहीं बोलती, किन्तु जेलके बाहर जो स्वाधीनता है वह हमलोगोंको धोखा देकर संकटमें डालती है। और, अगर संगतका खयाल करते हैं तो जेलमें मिथ्यावादी कायर और कृतघ्नोंकी संख्या कम है, कारण वहाँ जगह सीमित है, बाहर उससे कहीं ज्यादा है।"

१०

शशिभूषणके जेल जानेके कुछ ही दिनों बाद उसके पिताकी मृत्यु हो गई। उसके घरमें अपना कहनेको और कोई न था। एक भाई है, सो बहुत दिनोंसे मध्य-भारतमें काम करता है, वह शायद ही कभी देश आता है। वहाँ उसने अपना मकान बना लिया है और वहाँका वह स्थायी बाशिन्दा हो गया है। देशमें जो-कुछ जमीन-जायदाद थी, नायब हरकुमार नाना कौशलसे उसका अधिकाश हड़प कर चुके है।

जेलमें अधिकांश कैदियोंको जितना दु:ख भोगना पडता है, दैवदुर्विपाकसे शशिभूषणको उससे कही ज्यादा भोगना पडा। फिर भी पाँच साल किसी तरह बीत ही गये।

फिर एक दिन बरसातके दिनोंमें जीर्ण शरीर और शून्य हृदय लेकर शशिभूषण कारा-प्राचीरके बाहर आकर खडा हुआ। जेलके बाहर उसे स्वाधीनता मिली, किन्तु उसके सिवा और कोई या और-कुछ नही मिला। गृह-हीन आत्मीय-हीन समाज-हीन सिर्फ उस अकेलेके लिए इतना बडा संसार अत्यन्त ढीला मालूम होने लगा।

जीवन-यात्राका विच्छिन्न सूत्र फिर कहाँसे शुरू करे, यह सोच ही रहा था कि इतनेमें एक बग्घी उसके सामने आ खडी हुई। नौकरने उतरकर पूछा—"आपका नाम शशिभूषण बाबू है?"

उसने कहा—"हाँ।"

नौकरने उसी वक्त बग्घीका दरवाजा खोल दिया; और उसके चढनेकी प्रतीक्षामें खड़ा रहा।

शशिभूषण बड़े आश्चर्यमें पड़ गया। उसने पूछा—"मुझे कहाँ जाना होगा ?"

नौकरने कहा—"हमारी मालिकिनने आपको बुलाया है।"

राहगीरोकी कौतूहल-दृष्टि असह्य मालूम होनेसे वहाँ ज्यादा पूछ-ताछ करना उसने ठीक नही समझा, और तुरत गाड़ीमें सवार हो गया। सोचने लगा, 'जरूर इसमे कोई गलतफहमी हो रही है। लेकिन कही-न-कही एक जगह तो जाना ही होगा, – न-हो-तो इस गलतफहमीसे ही नये जीवनकी भूमिका शुरू होने दो।'

उस दिन भी मेघ और धूप आकाशमे एक दूसरेके शिकारकी फिराकमे घूम-फिर रहे थे; और रास्तेके किनारेके वर्षासे डूबे-हुए हरे-भरे खेत चंचल धूप-छायासे वड़े विचित्र दिखाई दे रहे थे। हाटके पास एक वड़ा रथ खड़ा था; और उसके पास ही मोदीकी दूकानके आगे वैष्णव-भिक्षुकोंका दल गोपीयन्त्र (एकतारा) मृदंग और करतालके साथ गीत गा रहा था—

"आवो आवो, लौट आवो, हे नाथ मेरे, लौट आवो!
भूखा-प्यासा चित्त मेरा, हे नाथ निष्ठुर, लौट आवो!"

गाड़ी आगे बढती चली जा रही थी। गीतका पद क्रमश· दूरसे दूरतर होकर कानोंमे प्रवेश करने लगा—

"निष्ठुर हो तो हुआ करो, प्रभु, करुणासागर भी तो हो तुम।
सजल-जलद-सम करुण-कोमल, हे नाथ मेरे, लौट आवो!"

गीतके शब्द क्रमश क्षीणसे क्षीणतर और अस्फुटसे अस्फुटतर होने लगे; फिर कुछ समझमें नही आया। किन्तु गीतके क्रन्दने शशिभूषणके हृदयमे एक तरहका आन्दोलन शुरू कर दिया। वह अपने मन-ही-मन गुनगुनाता हुआ पदके बाद पद जोड़ता ही चला गया, किसी भी तरह अपनेको रोक न सका—

"मेरे नित्य-सुख, तुम लौट आओ! मेरे दु ख-चिर, तुम लौट आओ!

मेरे सब-सुख-दुख-मन्थन-धन, आओ आओ, भर दो मन।
मेरे चिर-वांछित, आओ, मेरे चिर-संचित आओ।

हे अनादि, हे अनन्त, भुज-बन्धन बँध जाओ।
हृदय मध्य आओ, मेरी आँखमें समाओ।

मेरे जगनेमें, सपनेमें, हँसनेमें, रोनेमें,
मेरी प्रीति अप्रीतिमें, भ्रान्ति औ' भीतिमें आओ।
मेरे जनम-मरनके साथी मम प्राणमें समाओ।
आओ सुन्दर, आओ चंचल, आओ आओ आओ।"

गाड़ी जब एक प्राचीर-वेष्टित उद्यानमें जाकर विशाल अट्टालिकाके सामने खड़ी हुई, तब शशिभूषणका गीत भी थम गया।

उसने किसीसे कोई प्रश्न नहीं किया; नौकरके निर्देशानुसार वह उसके पीछे-पीछे मकानके भीतर चला गया।

जिस कमरेमें जाकर बैठा, उस कमरेमें चारों तरफ बड़ी-बड़ी काँचकी आलमारियोंमें विचित्र वर्णकी विचित्र जिल्दवाली किताबें सजी हुई थीं। उस दृश्यको देखते ही उसका पुराना जीवन मानो फिर एक बार जेलसे बाहर निकल आया। चारों तरफ सुनहरी जिल्दके विचित्र रंगोमें रंगे ग्रन्थोंका समूह उसे ऐसा मालूम होने लगा जैसे वह उसके लिए आनन्द-लोकमें प्रवेश करनेका सुपरिचित और रत्न-खचित सिंहद्वार हो।

सामनेकी टेबिलपर भी कुछ चीजें रखी थी। शशिभूषणने उनपर झुककर अपनी क्षीणदृष्टिसे देखना शुरू किया तो देखा कि एक टूटी-हुई सिलेट, उसपर कुछ पुरानी कापियाँ, एक फटी-हुई पहाड़ेकी पुस्तक, 'कथामाला' और 'महाभारत' रखा हुआ है। सिलेटके चौखटेके ऊपर शशिभूषणके हाथकी लिखावट है, मोटे-मोटे अक्षरोंमें लिखा है—'गिरिबाला देवी।' कापियों और किताबोंपर भी उसीके हस्ताक्षरोंमें वही नाम लिखा हुआ है।

'शशिभूषण समझ गया कि वह कहाँ आया है। उसके हृदयके भीतर रक्तस्रोत तरंगित हो उठा। खुली-हुई खिड़कीमेंसे उसने बाहरकी तरफ देखा। वहाँ क्या दिखाई दिया ? वही गाँवकी छोटी-सी बैठक, वही रास्ता, वही डोरियाकी साड़ी और वही 'गिरी'! और वही अपनी शान्तिमय एकान्त निश्चिन्त जीवनयात्रा।

उस दिनका वह सुखका जीवन कुछ भी असाधारण नहीं, जरा भी अत्यधिक नहीं, दिनपर दिन योंही छोटे-छोटे काम और छोटे-छोटे सुखोंमें बीत जाते थे, और उसके अपने अध्ययन-कार्यमे एक बालिका छात्राका अध्ययन-कार्य एक मामूली-सी घटना थी; किन्तु फिर भी, ग्राम-प्रान्तरकी वह निर्जन जीवन-यात्रा, वह छोटी-मोटी शान्ति, वह साधारण-सा सुख, छोटी-सी बालिकाका वह छोटा-सा मुंह, — सब-कुछ मानो स्वर्गके समान, देश-कालसे न्यारा और अधिकारके अतीत-रूपमें केवल आकांक्षाके राज्यमें कल्पनाकी छायामें विराज रहा था। उस दिनकी उन तसवीरों और स्मृतियोंने आजके इस वर्षासे म्लान प्रभातके प्रकाशके साथ और मनके भीतर मृदु-गुंजित कीर्तन-गानके साथ जड़ित और मिश्रित होकर मानो एक प्रकारका संगीतमय ज्योतिर्मय अपूर्व रूप धारण कर लिया। शशिभूषणके मानसपटपर उस दिनका वह जंगलसे घिरा गाँव, धूल और कीचड़से भरा गाँवका वह संकीर्ण रास्ता, और उसपर खड़ी-हुई अनादृत व्यथित बालिकाके अभिमान-मलिन मुखड़ेकी शेष स्मृति मानो विधाता रचित एक असाधारण अति-गम्भीर अति-वेदनापूर्ण आश्चर्यमय सुन्दर रूप धारण करके स्वर्गीय चित्रके समान प्रतिफलित हो उठी। उसके साथ बजने लगा कीर्तनका करुण सुर; और तब उसे ऐसा लगने लगा मानो उस ग्रामीण बालिकाके मुंहपर सम्पूर्ण विश्व-हृदयका एक अनिर्वचनीय दुःख अपनी छाया डाल रहा है। शशिभूषण अपनी बाँहोंमें मुंह छिपाकर उसी टेबिलपर, उसी सिलेट-कापी-किताबपर, अपना मुंह रखकर बहुत दिन बाद आज बहुत दिनोंका स्वप्न देखने लगा।

बहुत देर बाद मृदु-शब्दसे चकित होकर उसने मुंह उठाया। देखा कि उसके सामने चाँदीकी थालीमें फल-मूल और मिष्टान्न रखकर गिरिबाला

टेबिलके पास उसीकी प्रतीक्षामें चुपचाप खड़ी है। शशिभूषणने ज्यों ही मुंह उठाकर देखा त्यों ही निराभरणा शुभ्रवसना विधवा-वेशधारिणी गिरिबालाने नतजानु होकर प्रणाम किया।

विधवाने उठकर जब शीर्णमुख म्लानवर्ण भग्नशरीर शशिभूणषकी ओर सकरुण स्निग्धनेत्रोंसे देखा, तब उसकी आँखोंसे आँसू झर-झरकर कपोलोंपर गिर रहे थे।

शशिभूषणने उससे कुशल पूछनेकी चेष्टा की, किन्तु उसे भाषा ढूंढ़े न मिली; निरुद्ध अश्रुवाष्पने उसके वाक्य-पथको अवरुद्ध कर दिया; वाक्य और आँसू दोनों ही निरुपाय होकर हृदयके मुंहपर, कण्ठके द्वारपर, आकर रुके रहे। इतनेमें वैष्णव भिक्षुकोंका वह दल भिक्षा माँगता हुआ अट्टालिकाके सामने आ खड़ा हुआ; और बार-बार दुहरा-दुहराकर गाने लगा—

"आओ आओ, लौट आओ!"

कार्तिक, १९५१]

अतिथि

१

कटहलियाके जमींदार मोतीलाल बाबू परिवार-सहित अपनी नावमे बैठकर कलकत्तासे देश जा रहे थे। रास्तेमे दोपहरको एक गंजके पास नाव बँधवाकर भोजनकी तैयारियाँ करवा रहे थे कि इतनेमें एक ब्राह्मण बालकने आकर पूछा—"बाबू सा'ब, आपलोग कहाँ जा रहे हैं?" प्रश्नकर्त्ताकी उमर पन्द्रह-सोलहसे ज्यादा न होगी।

मोतीलाल बाबूने उत्तर दिया—"कटहलिया।"

लडकेने कहा—"मुझे रास्तेमें नन्दीगाँवमे उतार दीजियेगा?"

बाबूने सम्मति देते हुए पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

लड़केने कहा—"ताराचन्द।"

लडका देखनेमे सुन्दर और गोरा था। बडी-बड़ी आँखों और हँसी-भरे ओठोंसे एक तरहकी सुललित सुकुमारता प्रकट हो रही थी। देहपर एक मैली धोतीके सिवा और कोई कपड़ा न था। उघड़ा-हुआ बदन सब तरहके बाहुल्यसे वर्जित था, मानो उसे किसी कलाकारने बडे जतनसे सुन्दर सुडौल और निर्दोष बनाकर रचा हो। मानो वह पूर्व-जन्ममे तापस बालक था, और अब उस निर्मल तपस्याके प्रभावसे उसके शरीरसे बहुतसा शरीरांश क्षय होकर मानो उसमे एक प्रकारकी सम्मार्जित ब्राह्मण्य-श्री परिपुष्ट हो उठी है।

मोतीलाल बाबूने अत्यन्त स्नेह-भरे स्वरमे कहा—"अच्छा, बेटा, तुम नहा आओ। नहाकर यहींपर खाना। ऐं!"

ताराचन्दने कहा—"अच्छा।" और उसी क्षण वह बिना किसी सकोचके रसोईके काममे लग गया। मोतीलाल बाबूका नौकर पछाँहका था, मछली आदि बनानेमे वह उतना होशियार न था, ताराचन्दने उसका काम अपने हाथमे लेकर चटपट कर डाला, और दो-एक तरकारी भी अपनी अभ्यस्त निपुणतासे बना डाली। रसोईका काम खतम होनेपर

16-5

ताराचन्द नदीमें नहा आया ; और अपनी पोटली खोलकर उसमेंसे एक उजली धोती निकालके पहन ली ; एक छोटा-सा लकडीका कंघा निकालकर उससे अपने लम्बे-लम्बे वाल सँवारकर आगेसे पीछेको कर दिये , और फिर सजा-हुआ साफ-सुथरा जनेऊ ठीकसे छातीपरसे लटकाकर नावपर मोतीलाल वावूके पास जा खडा हुआ ।

मोती-वावू उसे अपने साथ नावके भीतर ले गये । वहाँ मोती-वावूकी स्त्री और उनकी एक नौ सालकी कन्या वैठी थी । मोती-वावूकी स्त्री अन्नपूर्णा उस सुन्दर वालकको देखते ही स्नेहसे पुलकित होकर मन ही मन बोलीं, 'अहा, किसका वच्चा है, कहाँसे आया है, इसकी मा इसे छोड़कर कैसे प्राण धारण किये हुए है !'

यथासमय मोती-वावू और उस लड़केके लिए पास-पास आसन और पाटे विछाये गये । लड़का विशेष भोजन-पटु न था । अन्नपूर्णा उसका कम खाना देखकर सोचने लगी, शायद शरमसे नहीं खा रहा है । उससे उन्होंने ये चीज वो-चीज खानेके लिए वहुत अनुरोध किया ; किन्तु जव वह खाना खतम कर चुका तो फिर उसने एक भी अनुरोध नहीं माना । देखा गया कि लडका सम्पूर्णत. अपनी इच्छासे काम करता है ; और ऐसे सहज-स्वभावसे करता है कि उससे किसी तरहकी जिद या बेअदवी प्रकट नहीं होती । उसके व्यवहारमे लज्जाका भी कोई लक्षण देखनेमे नहीं आया ।

जव सब कोई खा-पी चुके तव अन्नपूर्णाने उसे अपने पास बिठा लिया , और फिर उससे उसके जीवनका इतिहास पूछने लगी । विस्तृत विवरण कुछ भी प्राप्त न हुआ । कुल-जमा इतनी-सी वात मालूम हुई कि वह सात-आठ सालकी उमरमें ही अपनी इच्छासे घर छोड़कर भाग आया है ।

अन्नपूर्णाने पूछा—"तुम्हारी मा नहीं है ?"

ताराचन्दने कहा—"हैं ।"

अन्नपूर्णाने पूछा—"वे तुम्हें प्यार नहीं करतीं ?"

ताराचन्द इस सवालको विलकुल ऊटपटांग समझकर हँस दिया । बोला—"क्यों, प्यार क्यों नहीं करेंगी ?"

अन्नपूर्णा बोली—"तो फिर तुम उन्हें छोड़कर क्यों चले आये ?"

ताराचन्दने कहा—"घरमे उनके और भी तो चार लड़के और तीन लड़कियाँ हैं।"

अन्नपूर्णा बालकके इस अद्भुत उत्तरसे व्यथित होकर बोलीं—"अरे, यह कैसी बात ! पाँच उंगलियाँ होती हैं तो क्या एक उंगलीको कोई अलग फेंक देता है !"

ताराचन्दकी उमर कम है, उसका इतिहास भी लम्बाईमें बहुत छोटा है, किन्तु वह लडका बिलकुल विचित्र है। वह अपने मा-बापका चौथा लड़का है ; और छुटपनमें ही उसके पिता गुजर चुके हैं। बहु-सन्तानके घरमें भी ताराचन्दका आदर था और उससे सब काफी लाड़-प्यार करते थे , भाई-बहन और मुहल्लेके लोग भी उसे बहुत चाहते थे। और तो क्या, पाठशालाके गुरुजी भी उसे नहीं मारते थे , कभी मार भी देते थे तो वह उसके घरवाले और गाँववाले सबको नागवार गुजरता था। ऐसी अवस्थामे उसके लिए घर छोडकर भागनेका कोई कारण ही नहीं था। जो उपेक्षित लड़का हमेशा चोरी किये-हुए पेडोंके फल और गृहस्थोंसे उससे चौगुना प्रतिफल खाता फिरता है, वह भी अपने परिचित गाँवकी सीमाके अन्दर अपनी तंग-करनेवाली माके पास ही पड़ा रहा ; और सारे गाँवका प्यारा लडका एक विदेशी नाटक-मण्डलीके साथ बेधड़क गाँव छोड़कर भाग आया।

गाँवके लोग उसे ढूंढ़-खोजकर फिर गाँवमें ले गये। उसकी माने उसे छातीसे लगाकर रोते-रोते आँसुओंसे भिगो दिया , उसकी बहनें रोने लगी , और, बड़े भाईने पुरुष-अभिभावकताका कठिन कर्तव्य पालन करते-हुए उसे मीठी-मीठी डाट बताकर अन्तमे अनुतप्त-चित्तसे प्रश्रय और पुरस्कार दिया। मुहल्लेकी औरतोंने उसे घर बुलाकर बहुत लाड और नाना प्रकारके प्रलोभन दिखाते-हुए उसे गाँवमें ही रहनेके लिए अनुरोध किया। किन्तु, बन्धन, यहाँ तक कि स्नेह-बन्धन भी उससे नहीं सहा गया। उसके जन्म-नक्षत्रने उसे गृहहीन कर दिया है। वह जब भी देखता कि नदीमेंसे कोई परदेसी नाव जा रही है, पुराने बड़के नीचे दूर-देशसे कोई साधु महाराज आये हैं, या

बंजारे लोग नदीके किनारेवाले खाली मैदानमें छोटी-छोटी बाँसकी खपच्चियाँ छीलकर टोकनियाँ बना रहे हैं, तभी किसी अज्ञात बाहरी पृथिवीकी स्नेहहीन स्वाधीनताके लिए उसका चित्त रो उठता। इस तरह जब वह तीन-तीन बार भागनेके बाद भी चौथी बार भाग खड़ा हुआ, तब उसके घरवाले और गाँववाले उसकी तरफसे आशा छोड़ बैठे।

पहले उसने एक नाटक-मंडलीका साथ लिया था। मण्डलीके अधिकारी जब कि उससे पुत्रवत् स्नेह करने लगे और दलके छोटे-बड़े सभी जनोंका जब वह प्रिय पात्र हो उठा, यहाँ तक कि जिनके यहाँ नाटक होता उस घरके मालिक और खासकर मालिकिनें उसे खास तौरसे बुलाकर खातिर करने लगीं, तब वह एक दिन किसीसे कुछ कहे बगैर ही कहाँ गायब हो गया, किसीको कुछ पता ही न चला।

ताराचन्द हरिण-शिशुके समान बन्धन-भीरु और हरिणकी तरह ही संगीत-मुग्ध है। नाटकके गानोंने ही उसे पहले-पहल घरसे विरागी बना दिया था। गानेके स्वरने उसकी सारी नसोंमें अनुकम्पन और तालने उसके सारे शरीरमें आन्दोलन शुरू कर दिया था। जब वह बहुत ही छोटा बच्चा था तब उसे संगीत-सभामें वयस्कोंकी तरह संयम और गम्भीरताके साथ झूमते देख बड़ोंसे हँसी रोके न रुकती थी। केवल संगीत ही नहीं, बल्कि पेड़ोंके पत्तोंपर जब मेह बरसता, आकाशमें जब बादल गरजते और जंगलमें मातृहीन दैत्य-शिशुकी तरह हवा जब रोती रहती, तब भी उसका चित्त उच्छृङ्खल हो उठता। निस्तब्ध दोपहरको दूर आकाशमें चीलोंका चीखना, वर्षाकी संध्यामें मेढकोंका टरटराना, और गहरी रातको शृगालोंका शोर मचाना, — ये सभी बातें उसे चंचल कर देतीं। इसी संगीतके मोहसे आकृष्ट होकर वह एक गवैयोंके दलमें शामिल हो गया था। दलके मालिकने उसे बड़े जतनसे गाना सिखाया था; और अपने हृदय-पिञ्जरकी चिड़ियाकी तरह वह इसे प्यार भी करने लगा था। पक्षीने कुछ-कुछ गाना सीखा, और एक दिन, पौ फटते ही उड़कर चला गया।

आखिरी बार वह एक नटोंके दलमें शामिल हुआ था। जेठसे लेकर

आसाढके अन्त तक इस प्रान्तमें जगह-जगह मेले लगा करते हैं। उस समय नाटक-यात्रा, कवि-गान, ग्राम्य कवियोंके गीत, नटोंका खेल, नर्तकियोंका नृत्य आदि अनेक तरहके खेल हुआ करते हैं, ये तमाशेवाले नावोंमें इधरसे उधर जाया-आया करते हैं। पिछले साल नटोंका एक दल इसी तरह नावमें सफर कर रहा था, जिसमे ताराचन्द भी शामिल था।

इस दलसे भागना उसका अन्तिम भागना है। उसने जब सुना कि नन्दीग्रामके जमींदार शौकसे एक अच्छी नाटक-मण्डली संगठित कर रहे हैं तो वह चटसे अपनी पोटली बाँधकर नन्दीग्राम जानेको तैयार हो गया और गंजमे आकर नावकी फिराकमें नदीके किनारे घूमने लगा। इतनेमें मोती बाबूसे उसकी भेंट हो गई।

ताराचन्द, पारी पारीसे नाना दलोंमे शरीक होनेपर भी, अपने स्वाभाविक कल्पनाशील प्रकृतिके प्रभावसे किसी भी एक दलकी विशेषता प्राप्त न कर सका। मनमें वह सम्पूर्ण निर्लिप्त और मुक्त था। दुनियाकी बहुत-सी बुरी बातें उसने सुनी हैं और बहुतसे कुत्सित दृश्य भी देखे हैं, पर वे उसके मनमे थोडी देरके लिए भी न टिक सके। अन्यान्य बन्धनोंकी तरह किसी तरहकी आदतका बन्धन भी उसके मनको काबू न कर सका। असलमें वह इस संसारके पंकिल जलमें हमेशा शुभ्र-पक्ष राजहंसकी तरह ही तैरता रहा है। कुतूहलवश जब-जब उसने डुबकी लगाई तब-तब उसके पंख न तो भीगे और न मलिन ही हुए। इसलिए इस गृहत्यागी बालकके चेहरेपर हमेशा एक प्रकारका शुभ्र स्वाभाविक तारुण्य अम्लानरूपमे बना ही रहा। यही वजह है कि उसकी उस तरुण मुखश्रीको देखकर प्रवीण और बुद्धिमान मोतीलाल बाबू भी उसपर मुग्ध हो गये, और बिना किसी सन्देहके उन्होंने उसे सहज ही अपना लिया।

२

खाना-पीना हो चुकनेके बाद नाव खोल दी गई। अन्नपूर्णा बड़े स्नेहसे उस ब्राह्मण बालकसे उसके घरकी और आत्मीय-स्वजनोंकी बातें पूछने लगीं। ताराचन्दने संक्षेपमें सबका जवाब देकर बाहर आकर छुटकारा पाया। बाहर

वर्षाकी नदी परिपूर्णताकी अन्तिम रेखा तक भर उठी थी और इस तरह उसने अपने उद्दाम चाञ्चल्यसे प्रकृति-माताको मानो उद्विग्न कर रखा था। मेघ-मुक्त धूपसे नदी-तटकी अध-डूबी काशतृण-श्रेणी और उसके ऊपर सरस ईखके घने खेत, और उससे भी ऊपर दूर-दिगन्तको चुम्बन करनेवाली नीले रंगकी वन-रेखा मानो किसी एक रूप-कथाकी जादूकी लकडीके स्पर्शसे सद्य-जाग्रत सौन्दर्यके समान निर्वाक् नीलाकाशकी मुग्धदृष्टिके सामने परिस्फुट हो उठी थीं। चारों तरफका दृश्य मानो सजीव, स्पन्दित, प्रगल्भ, आलोकसे उद्भासित, नवीनतासे सुचिक्कण और प्राचुर्यसे परिपूर्ण हो उठा है।

ताराचन्द नावकी छतपर पालकी छायाके नीचे जाकर बैठ गया। ढालू सब्ज मैदान, पानीसे भरे पाटके खेत, हरे-भरे धानके खेत, घाटसे गाँवकी ओर जानेवाले सकीर्ण रास्ते, और छायामय वृक्षोंसे घिरे-हुए गाँव मानो पारी-पारीसे उसकी आँखोंमें आ बसने लगे। ये सब — जल-स्थल-आकाश, चारों तरफकी सचलता सजीवता और मुखरता, ऊपर और नीचेकी व्याप्ति वैचित्र्य और निर्लिप्त सुदूरता, विशाल और चिरस्थायी निर्निमेष वाक्यविहीन विश्वजगत् — उस तरुण बालकके परमात्मीय थे, फिर भी वे इस चंचल मानव-सन्तानको एक क्षणके लिए भी अपने स्नेह-पाशमें बाँधनेकी कोशिश नहीं करते। नदीके किनारे एक बछड़ा पूँछ उठाकर दौड रहा है, गाँवका एक टट्टू घोडा अपने बँधे-हुए पैरोंसे उछल-उछलकर घास खा रहा है, रामचिरैया मछुओंकी जाल बाँधनेकी बाँसकी खूंटीपरसे पानीमें झपटकर मछली पकड रही है, लडके पानीमें ऊधम मचा रहे है, स्त्रियाँ छाती-भर पानीमें नहाती-हुई जोर-जोरसे हँस-हँसके आपसमे बातें कर रही हैं, — इन सब दृश्योंको वह चिर-नवीन अश्रान्त कुतूहलके साथ बैठा-बैठा देख रहा है, किसी भी तरह उसकी दृष्टिकी प्यास मिट ही नहीं रही है।

इसके बाद धीरे-धीरे उसने माझीके साथ गप्पे करना शुरु कर दिया। बीच-बीचमे जरूरतके वक्त मल्लाहोके हाथसे लग्गी लेकर ठेलने लगा। माझीको जब तम्बाकू पीनेकी सूझी तो उसने जाकर डाँड़ थाम लिया, और जब जिस तरफ घुमाना चाहिए, दक्षताके साथ घुमाने लगा।

शाम होनेके पहले अन्नपूर्णाने ताराचन्दको बुलाकर पूछा—"रातको तुम क्या खाते हो ?"

ताराचन्दने कहा—"जो मिल जाता है सो खा लेता हूं। किसी-किसी दिन नहीं मिलता तो यों ही रह जाता हूं।"

इस सुन्दर ब्राह्मण बालककी तरफसे आतिथ्य ग्रहण करनेकी इस उदासीनतासे अन्नपूर्णाको कुछ कष्ट हुआ। उनकी बड़ी इच्छा है कि इस गृह-च्युत रास्तेके लड़केको वे खिला-पहराकर तृप्त कर दें, किन्तु क्या करनेसे वह तृप्त होगा, इसकी कुछ थाह ही नहीं मिलती। अन्नपूर्णाने नाव किनारे लगवाकर नौकरको बुलाकर गाँवसे दूध-दही-मीठा वगैरह मँगानेकी धूम मचा दी। ताराचन्दने भर-पेट भोजन किया, पर दूध नही पिया। मौन-स्वभाव मोतीलाल बाबूने भी उसे दूध पीनेके लिए कहा; पर उसने नही पिया। बोला—"मुझे अच्छा नही लगता।"

दो-तीन दिन इसी तरह बीत गये। ताराचन्द रसोई बनानेसे लेकर नाव चलाने तक सभी कामोंमें स्वेच्छा और तत्परताके साथ हाथ बटाता रहा। जो भी कोई दृश्य उसकी आँखोंके सामने आता, उसी तरफ उसकी सकौतुक दृष्टि तुरत दौड़ जाती, और जो भी कोई काम उसके आगे आता उसीको वह बड़ी दिलचस्पीसे करने लगता। उसकी दृष्टि, उसका मन, उसके हाथ-पाँव हरवक्त चलते ही रहते हैं, इसलिए वह नित्य-सचला प्रकृतिकी तरह सर्वदा निश्चिन्त उदासीन और साथ ही क्रियासक्त रहता। मनुष्य-मात्रके अपनी एक स्वतन्त्र अधिष्ठान-भूमि होती है; किन्तु ताराचन्द मानो इस अनन्त नीलाम्बर-वाही विश्वप्रवाहकी एक आनन्दोज्ज्वल तरंग है, भूत-भविष्यके साथ उसका कोई बन्धन नहीं, सामनेकी ओर चलते चलना ही उसका एकमात्र कार्य है।

इधर उसने बहुत दिनों तक नाना सम्प्रदायोंमें मिलकर अनेक प्रकारकी मनोरंजनी-विद्या अर्जन कर ली थी। किसी प्रकारकी चिन्तासे आच्छन्न न होनेसे उसके निर्मल स्मृति-पटपर सभी बातें आश्चर्यजनक सरलतासे मुद्रित हो जाती थीं। 'पंचाली' गीत, कथाएं, कीर्तन-गान, 'यात्रा' और नाटकके लम्बे-

लम्बे कथोपकथन उसे कण्ठस्थ हो गये थे। मोतीलाल बाबू हमेशाकी तरह एक दिन शामको अपनी स्त्री और कन्याको 'रामायण' पढ़के सुना रहे थे। कुश-लवकी कथा शुरू ही हुई थी। सुनते ही ताराचन्द अपने उत्साहको न रोक सका, और नावकी छतसे उतरकर भीतर जाकर बोला—"पुस्तक रख दीजिये। मै कुश-लवका गीत गाता हूं, आप लोग सुनिये।" कहते हुए उसने 'पंचाली' गाना शुरू कर दिया। बाँसुरी-से मीठे और परिपूर्णस्वरमें वह दाशु रायके अनुप्रास तेजीसे बरसाता चला गया। माझी-मल्लाह सब दरवाजेके पास आकर झुक पडे। हास्य करुणा और संगीतसे नदी-तटपर उस संध्याकाशमें एक अपूर्व रस-स्रोत प्रवाहित होने लगा। दोनों तरफकी तट-भूमि कुतूहली हो उठी। पाससे जो नाव जा रही थी उसके यात्री क्षण-भरके लिए उत्कंठित होकर इसी ओर कान बिछाये रहे, और जब खतम हो गया तो सब-कोई व्यथित चित्तसे गहरी साँस लेकर सोचने लगे, 'बस, इतनी जल्दी खतम भी हो गया!'

सजल-नयना अन्नपूर्णाका जी चाहने लगा कि बच्चेको गोदमें बिठाकर छातीसे लगाकर खूब प्यार करें। मोतीलाल बाबू सोचने लगे, 'इस लड़केको अगर किसी तरह अपने पास रख सकूं तो पुत्रका अभाव पूरा हो जाय।' सिर्फ एक नन्ही-सी बालिका चारुशशीका मन ईर्षा और विद्वेषसे भर उठा।

२

चारुशशी अपने पिता-माताकी इकलौती सन्तान है, अपने मा-बापके स्नेहकी एकमात्र अधिकारणी। उसकी इच्छा और जिदका अन्त नही। खाने-पहनने और बाल बाँधनेके विषयमें उसका अपना स्वाधीन मत था, किन्तु उस मतका कोई भी ठीक नहीं था। जिस दिन कही निमन्त्रणमें जाना होता उस दिन उसकी माको डर लगा ही रहता कि अचानक लड़की साज-पोशाकके सम्बन्धमें न-जाने कब कौनसी जिद पकड़ बैठे! अगर दैवसे कहीं एक बार उसके मनके-से बाल बँध गये तो उस दिन फिर चाहे जितनी ही बार बाल खोलकर क्यो न बाँधे जायें, किसी भी तरह उसे पसन्द नहीं

आनेके ! और अन्तमें रोना भी शुरू कर देगी। सभी विषयोंमें उसका यही हाल था। और, किसी-किसी समय जब उसका मन प्रसन्न रहता तब-फिर उसे किसी भी बातमें कोई भी आपत्ति नहीं रहती। तब वह अत्यधिक मात्रामें प्यार जाहिर करती-हुई मासे लिपटकर चूमकर हँसकर बकवास करके उन्हें परेशान कर देती। असलमें, यह छोटी-सी लड़की इनके यहाँ एक दुर्भेद्य पहेली है।

यह लड़की अपने बन्धन-हीन अबाध्य हृदयका सम्पूर्ण वेग प्रयोग करके तीव्र द्वेषसे मन-ही-मन ताराचन्दको कोसने और मारने लगी। पिता-माताको भी उसने सब तरहसे परेशान कर डाला। खाते वक्त रो-रूठकर थाली फेंक देती है, कोई भी भोजन उसे अच्छा नहीं लगता, घरकी नौकरानियोंको मारने लगती है, और सभी विषयमें वह बेमतलबकी शिकायत करती रहती है। ताराचन्दकी विद्याएँ जितना ही उसका और अन्य सबोंका मनोरंजन करने लगीं उतना ही उसका गुस्सा बढने लगा। ताराचन्दमें कोई गुण है, यह बात चारुशशीको कतई मंजूर नहीं ; और मजा यह कि ज्यों-ज्यों उसके गुणोंका प्रमाण मिलने लगा त्यों-त्यों चारुका असन्तोष बढता ही चला गया। ताराचन्दने जिस दिन कुश-लवका गीत गाया था, उस दिन अन्नपूर्णाने सोचा था कि 'संगीतसे जगलके पशु भी वश हो जाते हैं, आज शायद मेरी लडकीका मन भी गल गया होगा।' उन्होंने चारुसे पूछा—"क्यों बिटिया, कैसा लगा ?" बेटीने कुछ जवाब न देकर जोरसे सिर हिला दिया। इस चेष्टाका भाषामें अनुवाद किया जाय तो उसके मानी होंगे, 'जरा भी अच्छा नहीं लगा , और न कभी लग सकता है।'

अन्नपूर्णा समझ गईं कि लडकीके मनमें ताराचन्दके प्रति ईर्षा बैठ गई है, और इसलिए उसके सामने उन्होंने ताराचन्दसे स्नेह करना छोड दिया। रात पड्ते ही चारु जब जल्दीसे खा-पीकर सो जाती तब अन्नपूर्णा दरवाजेके पास आकर बैठ जाती , और, मोती बाबू और ताराचन्द बाहर बैठ जाते ; और फिर, अन्नपूर्णाके अनुरोधसे ताराचन्द गाना शुरू करता। उसके गीतसे जब नदी-तटकी विश्राम-रता ग्रामश्री संध्याके विपुल अन्धकारमें मुग्ध निस्तब्ध हो रहती और अन्नपूर्णाका कोमल हृदय स्नेह और सौन्दर्य-

रससे उच्छ्वसित हो उठता, तब, सहसा चारु बिस्तरसे उठकर तेजीसे वहाँ आ धमकती और मारे क्रोधके रोकर कहती—"मारे हल्लाके मेरी नींद उचट गई, – मुझे सोने दो न !" उसके पिता-माता उसे अकेली सुलाकर खुद ताराचन्दको बिठाकर संगीत सुनें, यह उससे नहीं सहा जा सकता। किन्तु इस दीप्त-कृष्ण-नयना बालिकाकी स्वाभाविक सुतीव्रता ताराचन्दको अत्यन्त कौतुकजनक मालूम होती। चारुको वह कहानी सुनाकर, गीत गाकर और बाँसुरी बजाकर नाना प्रकारसे वश करनेकी कोशिश करने लगा ; पर किसी भी तरह वह सफल न हो सका। सिर्फ दोपहरको, नदीमें नहाते समय, ताराचन्दका गोरा सरल शरीर जब परिपूर्ण जलराशिमें नाना सन्तरण-भङ्गियोंमे अत्यन्त सरलतासे संचालित होता रहता, तब चारुको ऐसा लगता जैसे कोई तरुण जलदेवता क्रीड़ा कर रहा हो, और तब ताराचन्दके प्रति उसका मन आकृष्ट हुए बिना न रहता। वह उसी समयकी प्रतीक्षा करती रहती, पर अपने भीतरी आग्रहको किसीको जानने नहीं देती। ताराचन्द जब नदीमे कूदकर तैरने लगता तो यह अशिक्षा-पटु अभिनेत्री एकाग्र मनसे ऊनी गुलूबन्द बुनते-बुनते बीच-बीचमें मानो अत्यन्त उपेक्षासे कनखियोंसे उसका तैरना देखा करती।

४

नन्दीग्राम कब निकल गया, ताराचन्दको उसकी खबर ही नहीं। बड़ी नाव अत्यन्त मृदु-मन्दगतिमें कभी पाल तानकर और कभी रस्सेसे खिचकर नाना नदियोकी शाखा-प्रशाखाओंमेंसे चलने लगी। नावके यात्रियोंके दिन भी इन नदी-उपनदियोके ही समान हैं, जो शान्तिमय सौन्दर्यमय वैचित्र्यमेंसे सहज सौम्य-गतिसे मृदु और मीठे कलस्वरमे प्रवाहित हो रहे हैं। किसी तरहकी जल्दी नहीं है। दोपहरको नहाने खानेमें काफी समय बीत जाता, और फिर शाम होनेके पहले ही किसी बड़े गाँवके किनारे, घाटके पास, झींगुर-झंकृत और खद्योत-मण्डित जंगलके पास नाव बाँध दी जाती।

इस तरह दसवें दिन नाव कटहलिया पहुँची। जमींदारके आगमनपर उनके घरसे पालकी और टट्टू घोड़ोंका समागम हुआ . और लाठी-बन्दूक-धारी सिपाही-पियादोंने आकर बार-बार बन्दूककी आवाज करके गाँवके उत्कंठित काक-समाजको जरूरतसे ज्यादा मुखर कर दिया।

इन सब समारोहोंमे देर हो रही थी , इस बीचमे ताराचन्द नावसे उतर कर चटसे एक बार सारे गाँवमें पर्यटन कर आया। किसीको भाई साहब, किसीको चचा, किसीको जीजी और किसीको मौसी कहकर उसने दो-तीन घंटेके अन्दर गाँव-भरसे मेल कर लिया। कही भी उसके कोई वास्तव बन्धन नहीं था, इसीसे वह इतनी जल्दी और आसानीसे सबसे परिचय कर लेता था। देखते देखते कुछ ही दिनोंमें उसने गाँवके अधिकाश हृदयोंपर अपना अधिकार जमा लिया।

इतनी सरलतासे हृदय हरण करनेका कारण यह था कि ताराचन्द स्वभावत सभीके साथ उनके अपने समान होकर शामिल हो सकता था। वह किसी भी तरहके विशेष संस्कारोसे बँधा न था, और साथ ही सभी अवस्थाओंमे सभी कामोके प्रति उसमे एक तरहका स्वाभाविक झुकाव था। बच्चोंमें वह सम्पूर्ण स्वाभाविक बालक है, किन्तु उनसे श्रेष्ठ और स्वतन्त्र वृद्धोंमें वह बालक नहीं किन्तु बड़ा-बूढा भी नही , चरवाहोंके साथ वह चरवाहा है किन्तु है ब्राह्मण। सबके सब काममे वह चिरकालके सहयोगीकी तरह अभ्यस्त-रूपमे हस्तक्षेप कर सकता है। हलवाईकी दूकानमे गप्पे करते-करते हलवाई यह कहकर चल देता है कि 'जरा बैठना पण्डित-भाई, मै अभी आया।" और ताराचन्द मजेमे दूकानपर बैठा-बैठा पत्तलसे मक्खियाँ उड़ाया करता है। मिठाई बनानेमें भी वह मजबूत है, बुनाईका रहस्य भी कुछ कुछ जानता है और कुम्हारके चाक चलानेमें भी वह बिल्कुल अनाड़ी नही।

ताराचन्दने सारे गाँवको मुट्ठीमे कर लिया, पर गाँवकी एक बालिकाकी ईर्षापर अभी तक उसने विजय नही पाई। और शायद वह यह जानकर ही कि 'वह उसे गाँवसे बहुत दूर निर्वासित करनेकी कामना कर रही है', इस गाँवमे इतने दिन टिका रहा। किन्तु चारुशशिने इस बातका

अच्छा प्रमाण दिया कि बालिकावस्थामें भी नारीका अन्तर्रहस्य भेद करना अत्यन्त कठिन है।

मिसरानीजीकी लड़की सोनामनी पाँच सालकी उमरमें विधवा हुई थी, वही चारुकी समवयस्क सखी है। उसकी तबीयत ठीक न होनेसे वह कलकत्तासे आई-हुई अपनी सखीसे कुछ दिन मिल नहीं सकी थी। स्वस्थ होकर जिस दिन मिलने आई उस दिन प्रायः बिना कारण ही दोनो सखियोंमें जरा मनमुटाव-सा हो गया।

चारुने एक बड़ी भूमिकाके साथ किस्सा शुरू किया था। उसने सोचा था कि ताराचन्द नामक अपने नवार्जित बालक-रत्नकी आहरण-कथा विस्तारके साथ सुनाकर वह अपनी सखीके कुतूहल और विस्मयको सप्तममें चढ़ा देगी। किन्तु जब उसने सुना कि ताराचन्द सोनामनीसे जरा भी अपरिचित नहीं, उसकी मासे 'मौसी' कहता है और सोनामनी उससे भइया कहती है, और जब सुना कि ताराचन्दने सिर्फ उसे और उसकी माको बाँसुरी बजाकर ही नही सुनाई बल्कि उसके अनुरोधसे उसने उसके लिए अपने हाथसे एक बाँसुरी बनाकर दी है, उसे कितनी ही बार उसने ऊंची डालीपरसे फल और काँटेवाली टहनीसे फूल तोड़कर दिये हैं, तब चारुके अन्तःकरणमें मानो तप्त शूल-सा बिंध गया। चारु समझती थी कि ताराचन्द खास तौरसे उन्हीं लोगोंका ताराचन्द है, अत्यन्त गुप्तरूपसे संरक्षणीय है, और बाहरवाले थोड़ा-बहुत आभास पा सकते हैं, किन्तु उसके पास नही पहुँच सकते, दूरसे वे उसके रूप गुणपर मुग्ध होंगे, और चारुको धन्यवाद देते रहेंगे। वह सोचने लगी, ऐसा आश्चर्यजनक दुर्लभ दैवलब्ध ब्राह्मण बालक सोनामणिके लिए क्यों सहजगम्य हुआ! हम लोग अगर इतने जतनसे उसे न लाते, और इतने जतनसे न रखते, तो सोनामणिको उसके दर्शन कहाँसे होते? सोनामणिका 'भइया' है वह! सुनकर देहमें आग लग जाती है!

जिस ताराचन्दको चारु मन-ही-मन विद्वेष-शरोंसे जर्जर करनेकी कोशिश करती रही है, उसीके एकाधिकारको लेकर ऐसा प्रबल उद्वेग क्यों? इस रहस्यको कौन समझ सकता है!

अतिथि : कहानी

उसी दिन किसी-एक तुच्छ बातपर सोनामणिके साथ चारुशशिका मर्मान्तक विच्छेद यानी अड्डी हो गई। और उसी वक्त वह ताराचन्दकी कोठरीमें जाकर उसकी शौककी बाँसुरीको निकालकर उसपर कूदकर कुचलकर उसे निर्दयताके साथ तोडने लग गई।

चारु जब कि प्रचण्ड आवेगसे इस बाँसुरी-विध्वंस-कार्यमें नियुक्त थी, ठीक उसी समय ताराचन्द कहींसे आकर अपनी कोठरीमें दाखिल हुआ। वह बालिकाकी इस प्रलय-मूर्तिको देखकर दंग रह गया। बोला—"चारु, मेरी बाँसुरी क्यों तोड़ रही हो?" "तोडूंगी, खूब तोडूंगी!" – कहती हुई और भी दो-चार बार विदीर्ण बाँसुरीपर अनावश्यक पदाघात करके चारु उच्छ्वसित कण्ठसे रोती हुई कोठरीसे निकल गई। ताराचन्दने बाँसुरी उठाकर उलट-पुलटकर देखा कि अब उसमे कुछ सार नही रहा। बेमतलब अपनी पुरानी निरपराध बाँसुरीकी इस आकस्मिक दुर्गतिको देखकर वह अपनी हँसी न रोक सका। चारु दिनपर दिन उसके लिए परम कुतूहलका विषय बनती जा रही है।

उसके लिए और-एक कुतूहलकी वस्तु थी मोतीलाल बाबूकी लाइब्रेरीमें अंग्रेजीकी तसवीरोवाली किताबें। बाहरकी दुनियासे वह काफी परिचित हुआ है, किन्तु चित्रोकी इस दुनियामें उससे किसी भी तरह प्रवेश करते नही बन रहा है। कल्पनाके द्वारा अपने मनमे वह बहुत-कुछ पूर्ति कर लिया करता है, किन्तु उससे उसका मन तृप्त नही होता।

तसवीरोवाली किताबोंसे ताराचन्दका अनुराग देखकर एक दिन मोतीलाल बाबूने उससे कहा—"अंग्रेजी सीखोगे? – तब फिर सब तसवीरोंके मानी तुम्हारी समझमे आने लगेंगे!"

ताराचन्द उसी वक्त बोल उठा—"सीखूंगा।"

मोती बाबू बहुत ही खुश हुए, और उन्होंने तुरत स्कूलके हेडमास्टर रामरतन बाबूको बुलाकर उन्हें रोज शामको आकर बच्चेको अंग्रेजी पढानेका काम सौंप दिया।

५

ताराचन्द अपनी प्रखर स्मरणशक्ति और अखण्ड मनोयोग लेकर अंग्रेजी सीखनेमें लग गया। मानो वह किसी नये दुर्गम राज्यमें घूमने निकला हो! पुरानी दुनियाके साथ उसने कोई सम्बन्ध ही न रखा; मुहल्लेके लोगोंको वह दिखाई ही नहीं देता। शामके पहले जब वह निर्जन नदी-तटपर तेजीसे टहलता-हुआ पाठ याद करता, तब उसका उपासक बालक-सम्प्रदाय दूरसे क्षुण्ण चित्तसे इज्जतके साथ उसका निरीक्षण करता रहता, उसकी पढ़ाईमें विघ्न डालनेकी हिम्मत नही करता।

चारुको भी आजकल वह ज्यादा दिखाई नहीं पड़ता। पहले ताराचन्द अन्तःपुरमें जाकर अन्नपूर्णाकी स्नेहदृष्टिके सामने बैठकर भोजन करता था, किन्तु उसमें कभी-कभी उसे देर लग जाया करती, इसलिए मोती बाबूसे कहकर उसने बाहर ही अपने खाने-पीनेका इन्तजाम करा लिया है। इसपर अन्नपूर्णाने व्यथित होकर आपत्ति की, किन्तु मोती बाबू बालककी पढ़ाईके उत्साहसे खुश थे, इसलिए उन्होंने इस नई व्यवस्थाको कायम रखना ही ठीक समझा।

इस बीचमें चारु भी एक दिन जिद कर बैठी, 'मै भी अंग्रेजी सीखूंगी।' उसके पिता-माताने अपनी झक्की लड़कीके इस प्रस्तावको पहले तो परिहासका विषय समझकर स्नेह-मिश्रित हँसीमें उड़ा दिया, किन्तु कन्याने जब उक्त प्रस्तावके परिहास्य अंशको आँसुओंसे धोकर साफ कर दिया, तब उन्हें उसके गम्भीर भावको स्वीकार करना पड़ा। चारु उसी मास्टरके पास ताराचन्दके साथ ही पढ़ने लगी।

किन्तु पढ़ना लिखना इस अस्थिरचित्त बालिकाके स्वभावके अनुकूल न बैठा। उसने खुद तो कुछ सीखा ही नहीं, उलटे ताराचन्दकी पढ़ाईमें भी विघ्न डालने लगी। पढ़ाईमें पिछड़ जाती है, पाठ याद नहीं कर पाती, किन्तु फिर भी वह किसी भी तरह ताराचन्दके पीछे नहीं रहना चाहती। ताराचन्द उसे लाँघकर नया पाठ लेना चाहता तो उसे गुस्सा आ जाता, यहाँ तक कि वह रोना शुरू कर देती। ताराचन्द पुरानी किताब खतम करके नई किताब

लाता तो उसके लिए भी नई किताब खरीद देनी पड़ती। ताराचन्द फ़ुरसतके वक्त अपने कमरेमें बैठा लिखता और पाठ याद किया करता है, यह भी उस ईर्षापरायणा बालिकासे सहन नहीं होता। वह छिपकर उसके कमरेमें जाकर उसकी कापीपर स्याही उँडेल आती, कलम छिपा देती, यहाँ तक कि जिस किताबको वह पढता उसके पन्ने फाड आती। ताराचन्द इस बालिकाके उपद्रवको कुतूहलके साथ सहता, और असह्य होनेपर मारता भी, किन्तु किसी भी, तरह वह उसे अपने काबूमें न ला सकता।

सहसा एक उपाय निकल आया। एक दिन बहुत ही नाराज और लाचार होकर ताराचन्द अपनी स्याही-पड़ी कापीको फाड-फूडकर चुपचाप उदास होकर बैठा था। चारु दरवाजेके पास आते ही समझ गई कि आज वह मार खायेगी। पर उसकी उम्मीद पूरी नहीं हुई। ताराचन्द उससे एक भी शब्द न कहकर चुपचाप बैठा रहा। लड़की कमरेके भीतर और बाहर इधरसे उधर घूमती-फिरती रही। बार-बार उसके इतने पास जाकर पकड़ाई देने लगी कि ताराचन्द चाहता तो बडी आसानीसे उसकी पीठपर थप्पड या मुक्का जमा सकता था। लेकिन वह ऐसा न करके चुपचाप बैठा ही रहा। इससे लड़की बड़े चक्करमें पड गई। 'कैसे क्षमा माँगी जाती है' इस विद्याका उसने जीवनमें कभी अभ्यास ही नहीं किया, और साथ ही उसका छोटा-सा अनुतप्त हृदय अपने सहपाठीसे क्षमा माँगनेके लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठा। अन्तमें और कोई उपाय न देखकर, फटी-हुई कापीका एक टुकड़ा उठाकर उसपर उसने लिखा—"मैं अब कभी भी कापीपर स्याही नहीं उँड़ेलूंगी।" लिखकर उस लिखावटपर ताराचन्दकी दृष्टि आकृष्ट करनेके लिए वह नाना प्रकारकी चेष्टा करने लगी। देखकर ताराचन्दसे हँसी रोके न रुकी, और वह हँस दिया। इससे चारु लज्जा और क्रोधके मारे पागल-सी हो उठी, और उसी वक्त बडी तेजीसे कमरेसे बाहर भाग गई। असलमें, जिस कागजके टुकडेपर उसने अपने हाथसे दीनता प्रकट की है, उसे अनन्तकाल और अनन्त जगतसे लुप्त करनेके बाद ही उसके हृदयका दु:सह क्षोभ मिट सकता था।

इधर संकुचित-चित्त सोनामनी दो-एक दिन अध्ययनशालाके बाहरसे झाँक-झूँककर चली गई है। सखी चारुशशीके साथ उसका और सभी विषयोंमे विशेष सौहार्द था, किन्तु ताराचन्दके सम्बन्धमे चारुको वह अत्यन्त भय और सन्देहके साथ देखने लगी। चारु जिस समय भीतरवाले मकानमें रहती, ठीक उसी समय सोनामनी बड़े संकोचके साथ तराचन्दके दरवाजेके पास आ खड़ी होती। ताराचन्द अपनी पुस्तकसे दृष्टि उठाकर स्नेहके साथ पूछता—"क्यों सोना! क्या खबर है? मौसी अच्छी तरह हैं?"

सोना कहती—"बहुत दिनोंसे तुम गये नहीं। माने तुम्हें बुलाया है। माकी कमरमें दर्द है न, इसीसे वो नही आ सकी।"

इतनेमें अचानक चारु आ धमकती। सोनामनी घबरा जाती, मानो वह छिपकर अपनी सखीकी सम्पदा चुराने आई हो! चारु अपने कंठको सप्तममें चढाकर आँख-मुंह घुमाकर कहती—"क्यो सोना, तू पढनेके वक्त ऊधम मचाने आई है, – मै अभी बापूजीसे जाकर कहती हूं!" मानो वह स्वयं ताराचन्दकी एक प्रवीणा अभिभाविका हो, और रात-दिन इसी चिन्तामें रहती हो कि किसी भी तरह ताराचन्दकी पढाईमें जरा भी कोई विघ्न न आने पाये। लेकिन, वह खुद इस वक्त किस इरादेसे ताराचन्दके पढ़नेके कमरेमें आई थी, सो अन्तर्यामीसे छिपा न था; और ताराचन्द भी इस बातको अच्छी तरह जानता था। किन्तु सोनामनी बेचारी डरकर उसी क्षण नाना प्रकारकी झूठी कैफियत गढ़ना शुरू कर देती, और अन्तमे चारु जब उसे घृणाके साथ 'झूठी कहींकी!' कहके सम्भाषण करती तब वह लज्जित शङ्कित पराजित होकर व्यथित चित्तसे अपने घर लौट जाती। दयार्द्र ताराचन्द उसे बुलाकर कहता—"सोना, आज शामको मै तुम्हारे घर आऊंगा, अच्छा!" सुनकर चारु सर्पिणीकी तरह फुसकार उठती, और कहती—"हाँ-हाँ, जाओगे क्यों नही! तुम्हें पाठ याद थोडे ही करना है! मै मास्टर साहबसे कह नही दूंगी!"

चारुके इस शासनसे न डरकर ताराचन्द दो-एक दिन शामको अपनी मिसरानी-मौसीके घर गया था। तीसरी या चौथी बार चारुने खोखला

शासन न करके चुपकेसे जाकर उसके कमरेके दरवाजेकी साँकल चढा दी, और रसोई-घरसे लाकर ताला भी जड दिया। लगातार कई घण्टे तक कैद रखनेके वाद अन्तमें शाम वीत जानेपर जब भोजनका समय हुआ तब चारुने दरवाजा खोल दिया। ताराचन्द गुस्सेके मारे कुछ वोला नहीं; और वगैर खाये ही जानेके लिए तैयार हो गया। तब अनुतप्त व्याकुल वालिका वड़े विनयके साथ हाथ जोड़कर वार-वार कहने लगी—"तुम्हारे पाँयों पडती हूं, अब मै ऐसा कभी नहीं करूंगी। तुम्हारे पाँवो पड़ती हूं, तुम खाके जाओ।" इससे भी ताराचन्द जब वशमें न आया तब वह अधीर होकर रोने लगी। आखिर ताराचन्द धर्म-संकटमें पडकर खाने बैठ गया।

चारुने कितनी ही वार एकाग्र मनसे प्रतिज्ञा की है कि वह तारेचन्दके साथ अच्छा सलूक करेगी, और कभी भी एक क्षणके लिए भी वह उसे परेशान न करेगी, परन्तु सोनामनी आदि अन्य पाँच जनोंके वीचमें आ पड़नेसे कब उसका कैसा मिजाज हो जाता है, उसपर उसका कोई वस नही चलता। लगातार कई दिनों तक जब वह भलमनसाहतसे पेश आने लगती तभी ताराचन्द किसी एक भावी उत्कट आसन्न विप्लवके लिए सावधानीसे तैयार होने लगता। कारण, आक्रमण सहसा कब किस वातपर किस तरफसे हो, कुछ भी नही कहा जा सकता। उसके वाद प्रचण्ड आँधी, आँधीके वाद जोरकी अश्रु-वर्षा, और फिर प्रसन्न स्निग्ध शान्ति।

६

इसी तरह करीव दो साल बीत गये। इतने लम्बे समयके लिए ताराचन्द आज तक कही भी कभी पकड़ाई नहीं दिया। शायद पढ़ने-लिखनेमें उसका मन किसी अपूर्व आकर्षणसे वँध गया था, और शायद उमर वढनेके साथ-साथ उसकी प्रकृतिमें परिवर्तन भी शुरू हो गया था और स्थायी-रूपमें कहीं एक जगह रहकर सासारिक सुख-स्वच्छन्दता भोगनेकी तरफ उसका मन झुक रहा था। इसके सिवा, शायद उसकी सहपाठिका वालिकाका नित्य

उपद्रव-चंचल सौन्दर्य अज्ञातरूपसे उसके हृदयपर जाल फैला रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इधर चारुकी उमर ग्यारह पार होना चाहती है। मोती वाबूने काफी खोज करानेके वाद दो-तीन अच्छे-अच्छे सम्बन्धकी वात शुरू कर दी। लड़की वड़ी हो चुकी है, इससे मोती-वावूने उसका अंग्रेजी पढना और वाहर निकलना वन्द कर दिया। इस आकस्मिक अवरोधसे चारुने घरके अन्दर वडा-भारी एक आन्दोलन खड़ा कर दिया।

तव फिर, अन्नपूर्णाने एक दिन मोती-वावूको भीतर वुलाकर कहा—"लड़केके लिए तुम इतने उतावले क्यों हो रहे हो? ताराचन्द लड़का तो वहुत अच्छा है; और तुम्हारी लड़कीको भी पसन्द है।"

सुनकर मोती-वावूने अत्यन्त आश्चर्य प्रकट किया; और कहा—"यह कैसे हो सकता है! ताराचन्दका कुल-शील कुछ भी नहीं मालूम। मेरे एकमात्र लड़की है, मै उसे किसी अच्छे घरमें देना चाहता हूं।"

एक दिन रायडंगाके जमीदारकी तरफसे लोग लड़की देखने आये। चारुको पहना-उढ़ाकर वाहर लानेकी कोशिश की गई, किन्तु वह अपने कमरेमें दरवाजा वन्द करके वैठ रही, और किसी भी तरह वाहर निकली ही नही। मोती वावूने कमरेके वाहरसे वहुत समझाया-मनाया और वादमें डाट भी वताई; पर कोई फल नही हुआ। आखिर मोती-वावूको वाहर जाकर रायडंगाके दूतोको झूठ कहना पड़ा कि 'लडकीकी अचानक तवीयत खराव हो गई है, इसलिए आज उसे नही लाया जा सकता।' उनलोगोंने समझ लिया कि 'लड़कीमें जरूर कोई दोष है, इसीलिए यह चातुरी की गई है।'

तव फिर मोती-वावू सोचने लगे, 'ताराचन्द लड़का तो अच्छा है, उसे अपने घरमें भी रखा जा सकता है, और इस तरह लडकीको पराये घर भी न जाना पडेगा।' उन्होंने यह भी सोच देखा कि उनकी अशान्त और अवाध्य लड़कीकी शरारतें उनकी स्नेहकी दृष्टिमे भले ही क्षम्य हों, पर ससुरालमें उन्हें कोई नही सहनेका।

इसके वाद, इस विषयमें अन्नपूर्णासे उनकी वहुतसी वाते हुईं; और

अन्तमें तय हुआ कि ताराचन्दके गाँवमें आदमी भेजकर उसके कुलके बारेमें जानकारी हासिल की जाय। यथासमय आदमी गया और जान आया कि वंश अच्छा है, सिर्फ पैसेकी कमी है। तब मोती-बाबूने लड़केकी मा और भाइयोंके पास विवाहका प्रस्ताव भेजा। सुनकर ताराचन्दके घरवाले मारे खुशीके फूले न समाये, और तुरत अपनी सम्मति दे दी।

इधर कटहलियामे लड़कीके मा-बाप ब्याहका दिन सुधवाने लगे। किन्तु स्वाभाविक-गोपनताप्रिय सावधानी मोती-बाबूने और-किसीसे भेद नहीं खोला।

सबसे बड़ी दिक्कत यह हुई कि चारुको घरके भीतर रोककर न रखा जा सका। वह बीच-बीचमें आँधीकी तरह बाहर ताराचन्दके कमरेमें पहुंच ही जाती। कभी प्यार और कभी गुस्सा होकर वह उसकी निभृत-शान्ति और पठन-पाठनमे ऐसा विघ्न उपस्थित कर देती कि बेचारा परेशान हो जाता। इतना सब-कुछ होते हुए भी आजकल एक नई बात यह पैदा हुई है कि इस निर्लिप्त मुक्त-स्वभाव ब्राह्मण बालकके चित्तमें कभी-कभी क्षण-भरके लिए विद्युत्-स्पन्दनके समान एक अपूर्व चाचल्यका संचार होने लगा। जिस बालकका हलका मन हमेशासे अव्याहत-रूपसे काल-स्रोतकी तरंगोंके साथ सामनेकी ओर ही बहता चला जाता था, वह आजकल कभी-कभी अन्यमनस्क होकर एक विचित्र दिवा-स्वप्नके जालमें फँस जाता। किसी-किसी दिन वह पढ़ना-लिखना छोड़कर मोती-बाबूकी लाइब्रेरीमें जाकर तसवीरोंवाली किताबोंके पन्ने उलटने लगता, और उन तसवीरोंके मिश्रणसे जिस कल्पना-लोककी सृष्टि होती, वह पहलेसे बिलकुल अलग और अधिकतर रंगीन होता। चारुका अद्भुत आचरण देखकर वह अब पहले-जैसा परिहास नही कर सकता, और ऊधम मचानेपर उसे मारनेका विचार भी उसके मनमें नही आता। अपना यह गूढ परिवर्तन और आवद्ध आसक्त-भाव खुद उसीको एक नया स्वप्न-सा मालूम होने लगा।

सावनमें ब्याहका शुभ-दिन तय करके मोती-बाबूने ताराचन्दकी मा और भाइयोंको लानेके लिए आदमी भेज दिया; पर ताराचन्दसे यह बात छिपा

रखी। और अपने कलकत्ताके दफ्तरको चीज-वस्तकी लम्बी फेहरिश्त भेज दी; और लिख दिया कि फौजी बैण्ड-बाजेकी व्यवस्था की जाय।

आकाशमे नव-वर्षाके बादल छा गये। गाँवकी नदी अब तक सूखी-सी पड़ी थी, बीच-बीचमें गड्ढोंमें कही-कही पानी जमा था, उस गंदले पानीमें छोटी-छोटी नावें डूबी पड़ी थी; और सूखी नदीकी बालूपर बैलगाड़ियोंके पहियोंकी गहरी लकीरें पड गई थीं, – इतनेमें एक दिन, मायकेसे लौटी-हुई पार्वतीकी तरह, गाँवकी सूनी-सूखी छातीमें न-जाने कहाँसे तेज जलधारा आ पहुँची। देखते-देखते गाँवका नदी-तट नग्न बालक-बालिकाओंसे भर गया, पानी देख-देखकर बच्चे खुशीके मारे नाचने लगे और पानीमे घुस-घुसकर नहाने लगे। कुटीर-वासिनियोंका समूह सहसा अपनी प्रिय-सङ्गिनियोंको देखनेके लिए बाहर निकल आया। शुष्क निर्जीव गाँवमे मानो कहींसे एक प्रबल प्राण-हिल्लोल जाग उठा। छोटी-बड़ी नाना आयतनोंकी नावें जाने-आने लगी, और माझी-मल्लाहोके गीतोंसे नदी मुखरित हो उठी। दोनों तटोंके गाँव जो साल-भर तक चुपचाप अपने रोजगारके काममें लगे हुए थे, उनमें एक तरहका अपूर्व आन्दोलन शुरू हो गया।

इन दिनों कुंडलकूटके नाग-बाबुओंके इलाकेमें रथयात्राका प्रसिद्ध मेला लगता है। एक दिन, दिन छिपनेके बाद, चाँदनीसे चमकते-हुए घाटपर जाकर ताराचन्दने देखा कि किसी नावमे सौदागर, किसी नावमें नाटक-मण्डलीवाले, किसी नावमें बाजेवाले, किसी नावमे कलकत्तेकी कनसर्ट-पार्टीवाले जोर-जोरसे गाते-बजाते हुए मेलेके लिए जा रहे हैं। देखते ही ताराचन्दका मन उन्मत्त उत्साहसे भर उठा। इतनेमें पूर्व-दिगन्तसे घने मेघोने आकर नदीके ऊपर मानो काला चँदोआ-सा तान दिया; और चाँद छिप गया। पुरवैया हवा खूब जोरोंसे चलने लगी, नदीका पानी कलकल-स्वरमे हँस उठा; और नदी-तटकी आन्दोलित वन-श्रेणीमें अन्धकार पुंजीभूत हो उठा। मेढ़क बोलने लगे; और झींगुरोंने अपनी झनकारकी आरीसे मानो अन्धकारको चीरना शुरू कर दिया। ताराचन्दके सामने मानो आज जगत्-व्यापी रथयात्रा शुरू हो गई; रथके पहिये घूमने लगे, ध्वजा उड़ने लगी, पृथिवी काँपने लगी,

बादल उड़ने लगे, हवा दौड़ने लगी, नदी बहने लगी, नावें चलने लगीं, बाजे बजने लगे। देखते-देखते बादल गरज उठे, बिजली चमकने लगी, दूर तक फैले-हुए अन्धकारमेंसे मूसलधार वर्षाकी गन्ध आने लगी। सिर्फ नदी-तटका एक कठहलिया गाँव ही अपने दीप बुझाकर चुपचाप सोता रहा।

दूसरे दिन सवेरे ताराचन्दकी मा और भाई वगैरह कठहलिया आ पहुँचे; और उनके साथ-साथ सामानसे भरी-हुई तीन बड़ी-बड़ी नावें भी कलकत्तेसे आ पहुँचीं।

उसी दिन सवेरे सोनामनी एक दोनेमें थोड़ा-सा अचार और दूसरे दोनेमें अमावट लेकर डरती-हुई ताराचन्दके कमरेके दरवाजेके पास चुपचाप आ खड़ी हुई; पर ताराचन्द नहीं दिखाई दिया। स्नेह-प्रेम-मैत्रीका षड़यन्त्र-बन्धन उस ब्राह्मण बालकको अच्छी तरह बाँध भी न पाया था कि उसके पहले ही, सारे गाँवका हृदय चुराकर, उस मेघान्धकारपूर्ण वर्षा-निशीथमें वह इस आसक्ति-हीन उदासीन विश्व-पृथिवीकी विशाल गोदमें कहाँ जा छिपा, कोई कुछ जान ही न सका।

भाद्र, १९५२]

राज-तिलक

नवेन्दुशेखरके साथ अरुणलेखाका जब ब्याह हुआ था, तब होम-धूमके अन्तरालसे भगवान प्रजापति जरा मुसकरा दिये थे। किन्तु हाय, प्रजापतिके लिए जो खेल है, हमारे लिए वह हमेशा कौतुकप्रद नहीं होता।

नवेन्दुशेखरके पिता पूर्णेन्दुशेखरकी अंग्रेज-राज-सरकारमें काफी प्रसिद्धि थी। इस भव-समुद्रमे वे केवलमात्र तेजीसे सलाम चलाकर ही 'रायबहादुर' उपाधिके उत्तुङ्गमरु-तटपर उत्तीर्ण हुए थे। और-भी दुर्गमतर सम्मान-पथका पाथेय उनके पास था, किन्तु पचपन सालकी उमरमें निकटवर्ती राज-खिताबके कुहेलिकाच्छन्न गिरि-शिखरकी तरफ अपनी करुण लोलुप दृष्टि स्थिर-निबद्ध रखकर वे इस राजानुग्रहीत क्षेत्रसे अकस्मात् खिताब-वर्जित लोकको कूच कर गये ; और उनकी अत्यधिक-सलामोंसे-शिथिल ग्रीवा-ग्रन्थि श्मशान-शय्यापर विश्राम करने लगी।

मगर, विज्ञान कहता है, 'शक्तिका स्थानान्तर और रूपान्तर होता है, नाश नही होता।' – चंचला लक्ष्मीकी अचंचला सखी सलाम-शक्ति पिताके सिरसे उतरकर पुत्रके सिर हो ली ; और नवेन्दुका नवीन मस्तक तरंग-ताड़ित कुष्माण्डकी तरह अंग्रेजोंके दर-दरपर अविश्रान्त झुकने और उठने लगा।

नि सन्तान-अवस्थामें पहली स्त्रीके मर जानेपर उन्होंने जिस परिवारमें ब्याह किया है, वहाँका इतिहास किन्तु भिन्न प्रकारका है।

उस परिवारके बड़े-भाई प्रमथनाथ अपने परिचितों और आत्मीय-जनोंमें बड़े आदरणीय थे , घरवाले और मुहल्लेवाले उन्हें सभी विषयोंमें अनुकरणीय मानते थे।

प्रमथनाथ विद्यामें बी०ए० और बुद्धिमें विचक्षण थे, किन्तु मोटी तनखा और कलमका जोर उनमें नही था। कारण, अंग्रेज उन्हें जितनी दूर रखना चाहते, वे भी उन्हें उतनी ही दूर रखकर चलते थे। लिहाजा, घर और परिचित-मण्डलीमें प्रमथनाथ जाज्वल्यमान थे, दूरस्थ लोगोकी दृष्टि आकर्षित करनेकी उनमें कोई क्षमता नही थी।

प्रमथनाथ एक बार तीन सालके लिए विलायत घूम आये थे। वहाँ अंग्रेजोंके सौजन्यसे वे इतने मुग्ध हुए थे कि अपने देशके अपमान-दुःखको भूल गये ; और अंग्रेजी पोशाकमें ही देश लौटे।

भाई-बहन आदि आत्मीय-जन पहले तो जरा संकुचित हो उठे, पर बादमे दो-चार दिन बाद ही कहने लगे, 'अंग्रेजी पोशाकमे वे इतने अच्छे दीखते हैं कि कुछ कह नही सकते!' और फिर उस परिवारमें अंग्रेजी पोशाकका गौरव-गर्व धीरे-धीरे संचारित होने लगा।

प्रमथनाथ विलायतसे मन-ही-मन सोचके आये थे कि 'अंग्रेजोंके साथ कैसे समानता रक्षा करके चला जाता है, देश जाकर मै उसका दृष्टान्त दिखा दूंगा। – जो यह कहा करते हैं कि बिना नवे अंग्रेजोंसे नही मिला जा सकता, वे खुद अपनी हीनता प्रकट करते हैं और अंग्रेजोंको भी व्यर्थमें अपराधी ठहराते हैं।'

प्रमथनाथ विलायतसे बड़े-बड़े आदमियोंसे बहुतसे आदर-पत्र लेते आये और उनकी मददसे भारत-प्रवासी अंग्रेजोंमें उन्होने कुछ-कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। यहाँ तक कि बीच-बीचमे सस्त्रीक अंग्रेजोकी चाय-पार्टी, डिनर, खेल और हास्य-कौतुकमेंसे भी उन्हें कुछ-कुछ हिस्सा मिलने लगा। इस सौभाग्य-मदमत्ततासे क्रमशः उनकी शिरा-उपशिराओंमें सनसनी-सी फैलने लगी।

ठीक इसी समय भारतमें नई-नई रेल्वे लाइन खुली ; और रेल्वे-कम्पनीके निमन्त्रणसे छोटे-लाटके साथ देशके बहुतसे राज-प्रसाद-गर्वित बड़े-आदमियोंने नई रेलमे भ्रमण किया। प्रमथनाथ भी उनमे शामिल थे।

लौटते समय एक अंग्रेज दरोगाने देशी बडे-आदमियोंको किसी-एक खास डब्बेमेंसे अपमानित करके उतार दिया। अंग्रेज-वेशधारी प्रमथनाथ भी, अपमानित होनेके पहले, उतरनेकी तैयारी करने लगे, तो दरोगाने उनसे कहा—"आप क्यो उतरते हैं, आप बैठिये न!"

इस विशेष सम्मानसे प्रमथनाथ जरा-कुछ फूल गये। किन्तु, जब गाडी छूट गई, तो तृण-हीन कर्षण-धूसर पश्चिम प्रान्तरकी प्रान्त-सीमासे सूर्यास्तकी एक म्लान आभा आई और सकरुण-रक्तिम लज्जाकी तरह मानो सारे देशपर

छा गई ; और तब प्रमथनाथ अकेले बैठे रेलकी खिड़कीमेंसे अनिमेष-दृष्टिसे वनान्तराल-वासिनी संकुचिता वंगभूमिको देख-देखकर बहुतसी बातें सोचने लगे, धिक्कारसे उनका हृदय विदीर्ण होने लगा और दोनो आँखोंसे गरम-गरम आँसुओंकी ज्वालामयी धारा बहने लगी।

उनके मनमें एक प्राचीन कहानीका उदय हुआ। एक गधा राजपथसे देव-प्रतिमाका रथ खींचे ले जा रहा था, राहगीर उसके सामने धूलमें लोटकर प्रतिमाको साष्टाङ्ग नमस्कार कर रहे थे, और मूढ गधा अपने मनमें सोच रहा था कि 'सब-कोई उसीका सम्मान कर रहे है!'

प्रमथनाथ मन-ही-मन कहने लगे, उस गधेमें और मुझमे इतना ही फ़र्क़ है कि 'मै समझ गया हूं, सम्मान मेरे लिए नही, किन्तु मेरे ऊपर लदे-हुए बोझकी खातिर है।'

प्रमथनाथने घर लौटकर घरके छोटे-बड़े सबोको बुलाकर होमाग्निका आयोजन किया ; और उसमें वे एक-एक करके समस्त विलायती कपड़ोकी आहूतियाँ देने लगे।

अग्नि-शिखा जितनी ही ऊंची होने लगी, लड़के उतने ही उच्छ्वसित आनन्दसे नाचने लगे। उस दिनसे प्रमथनाथ अंग्रेजोंके घरकी चाय और रोटीके टुकड़ोंको त्यागकर फिर अपने गृह-दुर्गमें दुर्गम हो बैठे। और, पूर्वोक्त लाछित उपाधि-धारीगण पूर्ववत् ही अंग्रेजोंके दर-दरपर अपने पगड़ी-शुदा मस्तकको झुकाने और उठाने लगे।

देव-दुर्योगसे भाग्यहीन नवेन्दुशेखर इस परिवारकी एक मँझली बहनसे ब्याह कर बैठे। इस घरकी लड़कियाँ जैसी पढ़ी-लिखी हैं वैसी ही सुन्दर भी। नवेन्दुने समझा, 'खूब जीत हुई!'

किन्तु, 'मुझे पाकर तुमलोग जीते हो' यह बात साबित करनेमें देर नही की। किस साहबने उनके पिताको कब कौनसी चिट्ठी लिखी थी वह मानो नितान्त भ्रमवश दैवसे जेबमेसे निकल आती और उसे वे सालियोंके हाथ चालान करने लगे। सालियोंके सुकोमल ओष्ठ-बिम्बोंके भीतरसे तीक्ष्ण-धार

हँसी जब लाल मखमलकी म्यानके भीतरकी तलवार-सी चमकती दिखाई दी तव स्थान-काल-पात्रके सम्बन्धमें उन्हें होश आया, और समझ गये कि 'बड़ी गलती हुई'।

सालियोंमें ज्येष्ठा और रूप-गुणमें श्रेष्ठा लावण्यलेखाने एक खास शुभ-दिन देखकर विलायती बूटोंपर सिन्दूर लगाया और उन्हें नवेन्दुके शयनगृहमे जाकर ताकमें रख दिया; और, सामने उसके फूल-चन्दन और जलता-हुआ दीप रखकर धूप जला दी। नवेन्दु ज्यों ही घरमें घुसे कि अन्य दो सालियोंने उनके दोनों कान पकड़कर कहा—"अपने इष्ट-देवताको नमस्कार करो। इनकी कृपासे ही तुम्हारी पदोन्नति होगी!"

तीसरी साली किरणलेखाने वहुत दिन परिश्रम करके एक चादरपर लाल सूतसे जोन्स स्मिथ ब्राउन टॉमसन आदि एक सौ आठ प्रचलित नाम काढ़ रखे थे। उसने भी एक दिन महासमारोहके साथ नवेन्दुको उक्त नामावलीका उपहार भेंट कर दिया।

चौथी साली शशाङ्कलेखा यद्यपि उमरके लिहाजसे गण्य व्यक्तियोंमें नहीं, फिर भी उसने आकर कहा—"जीजाजी, मै एक जपमाला वना दूंगी, तुम उससे साहवोंका नाम जपा करना।"

उसकी वड़ी वहनोंने उसे डाटते हुए कहा—"चल चल, तुझे बहादुरी नही दिखानी होगी!"

नवेन्दुको मन-ही-मन गुस्सा भी आने लगा और शरम भी, किन्तु सालियोंको छोड़ा कैसे जा सकता है,– खासकर वड़ी साली अत्यन्त सुन्दरी ठहरी। उसके मुंहमें मधु भी खूब है और काँटे भी। एकका नशा और दूसरेका दर्द दोनों ही मनमें खास जगह कर लेते हैं। शमाकी लौसे घायल पतंगा गुस्सेमें आकर भनभनाता भी रहता है और अन्ध-अवोधकी तरह उसके चारों तरफ चक्कर काटकर मरना भी नही छोड़ता।

अन्तमें साली-संसर्गके प्रवल मोहमें पड़कर, नवेन्दु साहव-सुहाग-लालसाको सम्पूर्णरूपसे अस्वीकार करने लगे। जिस दिन वे वड़े साहवको सलाम करने जाते उस दिन सालियोंसे कहते, 'सुरेन्द्र वनर्जीका भाषण सुनने जा रहा हूं।'

और दारजिलिंगसे लौटनेवाले मॅझले साहबके स्वागतके लिए स्टेशन जाते वक्त सालियोंसे कह जाते, 'मॅझले मामासे मिलने जा रहा हूं।'

साहब और साली इन दो नावोंमें पाँव रखकर बेचारेको बड़ा संकटमें पड़ना पड़ा। सालियोंने मन-ही-मन कहा, 'तुम्हारी दूसरी नावके पेंदेमें छेद बिना किये हम नहीं छोड़नेकी।'

महारानी विक्टोरियाके आगामी जन्म-दिवसमें नवेन्दु खिताब-स्वर्गलोकके प्रथम सोपान 'रायबहादुर'-उपाधिमें पदार्पण करेंगे, ऐसी अफवाह सुननेमें आई; पर उस सम्भावित सम्मान-लाभके आनन्द-उच्छ्वसित संवादको भीरु नवेन्दु सालियोंके आगे व्यक्त न कर सके। किन्तु, एक दिन शरत्-शुक्लपक्षकी रातमें सत्यानासी चाँदकी चाँदनीमें परिपूर्ण-चित्तावेगसे अपनी स्त्रीसे कह बैठे। दूसरे ही दिन सवेरे उनकी स्त्री पालकीमें बैठकर अपनी बहनके घर गई, और अश्रु-गदगद कण्ठसे वहाँ अपनी वेदना प्रकट करने लगी। लावण्यने कहा—"इसमें बुराई क्या है, 'रायबहादुर' होनेसे तेरे पतिके कोई पूंछ थोड़े ही निकल आयेगी जो इतनी शरमाती है!"

अरुणलेखा कहने लगी—"नही जीजी, और चाहे जो भी हो, मै रायबहादुरनी हरगिज नही हो सकती।"

असल बात यह थी कि अरुणलेखाके परिचित भूतनाथ-बाबू रायबहादुर थे; और यही उसकी आपत्तिका कारण था।

अन्तमें लावण्यने बहुत तरहसे समझाकर कहा—"अच्छा, तुझे इसके लिए फिकर करनेकी जरूरत नही।"

लावण्यके पति नीलरतन बक्सरमे काम करते थे। शरत्ऋतुके अन्तमें नवेन्दुके लिए वहाँसे लावण्यका निमन्त्रण आया। और खुशी-खुशी वे बक्सरके लिए रवाना हो गये। रेलपर चढते समय उनका बाया अंग नही काँपा, पर उससे सिर्फ इतना ही प्रमाणित हुआ कि आसन्न संकटके समय बायें अंगका काँपना मात्र-एक कुसंस्कार है।

लावण्यलेखा तब पश्चिम-प्रदेशके नवीन शीतागम-सम्भूत स्वास्थ्य और सौन्दर्यकी अरुण-पाण्डुर ज्योतिसे पूर्ण परिस्पष्ट होकर निर्मल शरदऋतुकी निर्जन नदी-तटकी हरी-भरी काशवन-श्रीके समान हास्य और हिल्लोलसे झलमला रही थी।

नवेन्दुकी मुग्ध दृष्टिपर मानो कोई पूर्ण-पुष्पिता मालती-लता नवीन प्रभातकी शीतोज्ज्वल तुषार-बिन्दु बरसाने लगी।

मनके आनन्द और पश्चिमकी हवासे नवेन्दुका अजीर्ण रोग दूर हो गया। स्वास्थ्यके नशेमें, सौन्दर्यके मोहमे और सालीके हाथकी सेवाके रोमाचसे मानो वे जमीनसे उठकर आकाशसे चलने लगे। बगीचेके सामनेसे परिपूर्ण गंगा मानो उन्हीके दुर्दम्य पागलपनका रूप धारण करके प्रबल वेगसे वही जा रही थी। सवेरे नदी-किनारे टहलकर वापस आते समय उन्हें ऐसा लगता जैसे शीत-प्रभातकी स्निग्ध धूपने प्रिय-मिलनके उत्तापकी तरह उनके सारे शरीरको चरितार्थ कर दिया हो। उसके बाद सालीके साथ शौकिया रसोईके काममें मदद देनेका भार लेकर वे पद-पदपर अपनी अज्ञता और अनैपुण्यका परिचय देते रहते। कारण, अपनी त्रुटियोंके बलपर ही प्रतिदिन उन्हें मधुर डाट-फटकार प्राप्त होती रहती, और इस सुखसे वे वंचित नही रहना चाहते। उचित मात्रामे मसाले निकालकर देना, चूल्हेसे तवा-कड़ाही बटलोई उतारना, 'ज्यादा आँच लगकर कही साग-तरकारी न जल जाय' इस बातकी सावधानी रखना इत्यादि अनेक विषयोंमे वे नन्हें बच्चेकी तरह प्रतिदिन अपनी अपटुता अक्षमता और लाचारी प्रमाणित करके सालीकी कृपा-मिश्रित हँसी और हँसी-शुदा लांछना वसूल करते रहते।

दोपहरको एक तरफ भूखकी ताड़ना और दूसरी तरफ सालीका अनुरोध, अपना आग्रह और प्रियजनोंकी उत्सुकता, रसोईकी उत्कृष्टता और रसोई-बनानेवालीकी सेवा-माधुरी — इन सबोंके संयोगसे भोजनके विषयमें तौलका अन्दाज कायम रखना उनके लिए कठिन हो उठता।

खाने-पीनेके बाद मामूली ताशके खेलमे भी नवेन्दु प्रतिभाका परिचय नही दे पाते। खेलमें वे बेईमानी करते, दूसरेके पत्ते देखनेकी कोशिश करते,

छीनाझपटी और बकझक शुरू कर देते, और फिर भी अपनी हार मंजूर नहीं करते, और इसके लिए रोज उन्हें काफी बुरी-भली सहनी पड़ती; मगर फिर भी, हजरत ऐसे पाखण्डी कि आत्म-सुधारकी रंचमात्र भी कोशिश नहीं!

सिर्फ एक विषयमें उन्होंने अपना पूरा सुधार कर लिया था; और वह यह कि साहबोंकी खुशामदको ही वे जो जीवनका चरम लक्ष्य मान बैठे थे, उस बातको फिलहाल बिलकुल भूल गये थे। और, आत्मी-स्वजनोंकी श्रद्धा और स्नेह कितना सुखदायी और गौरवकी वस्तु है, इस बातको सर्वान्त.करणसे अनुभव करने लगे थे।

इसके सिवा, मानो वे एक नई आब-हवामें पड़ गये थे। लावण्यके पति नीलरतन बाबू अदालतके बड़े वकील होते हुए भी साहब-सूबोंसे मिलने नही जाते; और इस बातपर कोई चर्चा छिड़ती तो वे कहते, "जरूरत क्या है भाई! बदलेमें अगर हमें भी वैसी ही भद्रता नही मिली तो व्यर्थ ही दु.ख उठाना पड़ेगा! मरुभूमिकी रेती देखनेमें सफेद होनेसे ही क्या उसमें बीज बोकर फसल उगाई जा सकती है? कुछ फल मिले तो काली जमीनमें भी बीज बोकर आराम है।"

नवेन्दु खिंचावमें आकर उनके दलमें भिड़ गये। परिणामकी कोई चिन्ता ही नही की। पिताकी और अपनी चेष्टासे जो जमीन जोती और बोई गई थी उसीसे अपने आप ही रायबहादुर-खिताबकी सम्भावना बढने लगी; उसमें फिरसे पानी सीचनेकी जरूरत नहीं रही। नवेन्दुने अंग्रेजोंके एक विशेष शौकके शहरमें काफी खर्च करके सुन्दर घुड़दौड़का स्थान बनवा दिया था।

इतनेमें, कांग्रेसके अधिवेशनका समय नजदीक आ गया। और, नीलरतनके पास चन्देके लिए अनुरोधपत्र आया।

नवेन्दु लावण्यके साथ बड़े मौजसे ताश खेल रहे थे। इतनेमें, नीलरतन चन्देकी बही हाथमें लिये बीचमें आ धमके; और बोले—"इसपर जरा अपने दस्तखत कर देना, भाई!"

पूर्व-संस्कारके अनुसार नवेन्दुका मुंह सूख गया। लावण्य अत्यन्त

चंचलताके साथ बोल उठी—"खबरदार, ऐसा काम भूलकर भी न करना ! नहीं तो, तुम्हारा घुड़दौड़का मैदान मिट्टीमें मिल जायगा !"

नवेन्दु उछलते हुए बोले—"अहा हा, जैसे मुझे उसकी फिकरके मारे नीद ही न आती हो ।"

नीलरतनने आश्वास देते हुए कहा—"तुम्हारा नाम किसी अखवारमें नही छपेगा ।"

लावण्यने अत्यन्त चिन्तित होकर विज्ञ-भावसे कहा—"फिर भी, जरूरत क्या है ! क्या मालूम, कही किसीने—"

नवेन्दु तीव्रस्वरमें कह उठे—"अखवारमे छपनेसे मेरा नाम घिस नहीं जायगा !" और नीलरतनके हाथसे वही लेकर उसमें एक हजार रुपया चन्दा लिखकर चटसे दस्तखत कर दिये। किन्तु मनमे आशा रही कि अखवारमे नाम नहीं छपेगा ।

लावण्यने माथेपर हाथ रखकर कहा—"यह तुमने क्या किया !"

नवेन्दुने दर्पके साथ कहा—"क्यो, क्या हो गया !"

लावण्यने कहा—"सियालदह स्टेशनके गार्ड, ह्वाइट-ऐवेकी दूकानके ऐसिस्टैण्ट, हार्ट ब्रादर्सके सईस साहब – ये लोग अगर तुमपर गुस्सा होकर मुंह फुलाके बैठ जायें, अगर तुम्हारे यहाँ पूजाके निमन्त्रणमे आकर शैम्पेन न पीयें, भेंट होनेपर अगर तुम्हारी पीठ न ठोंकें तो ?"

नवेन्दु उद्धत-स्वरमें बोल उठे—"हुँ ह ! तब तो मैं घर जाकर मर ही जाऊंगा !"

इसके कुछ ही दिन बाद, एक दिन सवेरे, नवेन्दु चाय पीते-हुए अंग्रेजीका अखबार देख रहे थे कि सहसा चिट्ठी-पत्रीके कालमपर उनकी दृष्टि पड़ गई। देखा कि उसमें 'एक्स' नामके किसी पत्र-प्रेरकने उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देते-हुए उनके काग्रेसमें चन्दा देनेकी बात प्रकट कर दी है ; और पीछेसे यह भी लिख दिया है कि उन जैसे आदमीका सहयोग पाकर काग्रेसको कितना बल मिला है उसका वर्णन नही किया जा सकता ।'

काग्रेसको वल मिला ! हाय स्वर्गवासी तात पूर्णेन्दुशेखर ! कांग्रेसका

बल बढ़ानेके लिए ही क्या तुमने इस अभागेको भारत-भूमिमें जन्म दिया था !

किन्तु, दुःखके साथ सुख भी होता है। नवेन्दु-जैसे आदमी कोई मामूली आदमी नही, उन्हें अपने-अपने तटपर लगानेके लिए एक तरफ भारतीय कांग्रेस और दूसरी तरफ अंग्रेज-साम्प्रदाय दोनोंने लालायित होकर जाल बिछा रखा है, – यह बात क्या ढक रखने लायक है ? लिहाजा, नवेन्दुने हँसते-हँसते अखबार ले जाकर लावण्यको दिखाया। लावण्यने ऐसा भाव दिखाते हुए कि जैसे उसे कुछ मालूम ही नही, अत्यन्त आश्चर्यके साथ कहा—"लो, यह तो बिलकुल ही भंडा-फोड़ कर दिया ! हाय हाय ! जरूर यह किसी दुश्मनका काम है ! भगवान करें, उसकी कलममें दीमक लग जाय, स्याहीमे बालू पड़ जाय, अखबारको कीडे खा जायें—"

इसके दो ही दिन बाद, नवेन्दुके नाम अंग्रेज-सम्पादित कांग्रेस-विरोधी एक अंग्रेजी दैनिक-पत्र डाकसे आया, उसमें 'one who knows' के नामसे पूर्वोक्त संवादका प्रतिवाद प्रकाशित हुआ है। लेखकने उसमे लिखा है, "जो नवेन्दुको जानते हैं, वे उन्हें बदनाम करनेवालेकी इस बातपर हरगिज विश्वास नहीं कर सकते ; शेरके लिए जैसे अपनी चमड़ीका रंग बदलना असम्भव है, वैसे ही नवेन्दुके लिए कांग्रेसमे शामिल होना असम्भव है। नवेन्दु-बाबू अपना पूरा व्यक्तित्व रखते हैं। वे कोई बेकारीमें नौकरीके उम्मीदवार या बिना मुवक्किलके वकील नही हैं। उनकी गिनती उनलोगोंमें नही है जो दो दिन विलायत घूमकर, रहन-सहन और पोशाककी नकल करके, अंग्रेज-समाजमें घुसनेकी हिमाकत करके अन्तमें अपना-सा मुँह लेकर लौट आये हों ! लिहाजा वे क्यों इस तरह—" इत्यादि-इत्यादि।

हा स्वर्गीय पिता पूर्णेन्दुशेखर ! अंग्रेजोंमें इतना नाम, इतनी इज्जत पाकर तब तुम मरे थे ! और आज, – क्या नाम है सो,—

यह चिट्ठी भी सालीके आगे पंखकी तरह पसारकर दिखाने लायक है। क्योंकि इससे स्पष्ट हो जाता है कि नवेन्दु कोई अप्रसिद्ध अकिंचन व्यक्ति नही हैं, वे अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं।

सुनते ही लावण्य फिर आश्चर्य-चकित रह गई, बोली—"यह चिट्ठी तुम्हारे किस मित्रने छपा दी! कौन है वो, टिकट-कलक्टर है, या चमड़ेका दलाल? कौन है यह?"

नीलरतनने कहा—"इस पत्रका तुम्हें प्रतिवाद करना चाहिए, भाई!"

नवेन्दुने कुछ ऊंचा भाव धारण करके कहा—"क्या जरूरत है! लोग ऐसे लिखा ही करते है, किस-किसका जवाब दिया जाय!"

लावण्य कहकहा मारकर हँस पड़ी।

नवेन्दु कुछ लज्जित-से हो गये, बोले—"इतनी हँसी क्यों?"

इसके उत्तरमे लावण्यने फिर अनिवार्य-वेगसे हँसकर अपनी पुष्पित-यौवना देहलताको इस तरह हिलाना शुरू कर दिया कि देखकर नवेन्दु परेशान हो उठे। परिहासकी पिचकारियोंका रंग जब उनकी आँख-कान-नाक तकमें समा गया तब वे खिसियाकर बोल उठे—"तुम समझती होगी कि मै प्रतिवाद करनेसे डरता हूं!"

लावण्यने कहा—"डरने क्यो लगे। मै सोचती हूँ, अपने अरमानोंका एक-मात्र सहारा घुड़दौड़के मैदानको अब कैसे बचाओगे! खैर कोई बात नही, जब तक साँस, तब तक आस।"

नवेन्दुने कहा—"वाह, खूब समझा! तुम समझती हो, मै इसीलिए नही लिख रहा!" और गुस्सेमें आकर उसी वक्त वे कागज कलम लेकर लिखने बैठ गये। पर, लिखनेमे गुस्सेकी सुर्खी नहीं आई, लिहाजा लावण्य और नीलरतनको उसके संशोधनका भार लेना पड़ा। फिर तो मानो पूड़ियोंकी कड़ाही चढ़ गई, नवेन्दु जिसे पानी और घीके सहारे ठंडी और नरम करके बेलते, दो-दो संशोधनकारी उसे तुरत कड़ाहीमे डालकर कड़ी और गरम करके फुला देते। अन्तमे लिखा गया कि 'अपने आदमी जब शत्रु हो उठते हैं तो वे बाहरके शत्रुओंसे कही ज्यादा खतरनाक हो जाते है। पठान या रशियन भारत-सरकारके उतने खतरनाक दुश्मन नही जितने खतरनाक गर्वोद्धत ऐंग्लो-इण्डियन हैं। वे ही सरकार और जनसाधारणके बीच

मैत्री-बन्धन नहीं होने देते। कांग्रेस और प्रजाके बीच स्थायी मैत्री न होने देनेमें उनके अखबार दीवारका काम कर रहे हैं।' इत्यादि।

नवेन्दुको भीतर-ही-भीतर डर लगने लगा; किन्तु 'पत्रकी लिखावट बड़ी सुन्दर हुई है' जानकर रह-रहकर वे पुलकित भी होने लगे। क्योंकि हजार कोशिश करनेपर भी उनसे ऐसा नहीं लिखा जाता।

इसके बाद कुछ दिनों तक दोनों पक्षोंके पत्रोंमें वाद-विवाद चलता रहा, और नवेन्दुके चन्दा देने और कांग्रेसमें शामिल होनेकी बात चारों तरफ फैल गई।

और, नवेन्दु भी जान हथेलीपर रखकर अपनी बात चीतमें ऐसा भाव दिखाने लगे कि साली-समाजमें वे अत्यन्त निर्भीक देश-हितैषी हो उठे। लावण्यने मन-ही-मन हँसकर कहा—'ठहरो, अभी तुम्हारी अग्नि-परीक्षा बाकी है!'

एक दिन सवेरे नवेन्दु नहानेके पहले अपनी छातीमें तेल लगाकर पीठके दुर्गम अंशोंपर तेल लगानेकी कोशिश कर रहे थे कि इतनेमें नौकरने आकर उन्हें एक कार्ड थमा दिया। उसपर खुद मजिस्ट्रेट साहबका नाम छपा था। और, लावण्य हास्य-कुतूहली दृष्टिसे कौतुक देख रही थी।

तेल लगाये-हुए तो मजिस्ट्रेटसे मिला नहीं जा सकता; लिहाजा, नवेन्दु कटी मछलीकी तरह फड़फड़ाने लगे। झटपट नहा लिये; और किसी कदर कपड़े पहनकर तेजीसे लपकते हुए बाहरकी बैठकमें पहुँचे। नौकरने कहा—"साहब बहुत देर तक बैठे-बैठे अभी तुरत उठके चले गये हैं।" इस मिथ्याचरणके पापमें कुछ हिस्सा नौकरका था और कुछ लावण्यका। इसे नैतिक गणित-शास्त्रकी एक सूक्ष्म समस्या भी कहा जा सकता है।

छिपकलीकी कटी-पूंछ जैसे सम्पूर्ण अन्धी बनकर फड़फड़ाती रहती है, नवेन्दुका क्षुब्ध हृदय भी भीतर-ही-भीतर वैसे ही पछाड़ें खाने लगा। दिन भर उन्हें खाने-पीनेमें सोने-बैठनेमें घूमने-फिरनेमें जरा भी चैन नहीं मिला।

लावण्य अपने चेहरेपरसे भीतरी हँसीके आभासको बिलकुल दूर करके उद्विग्नताके साथ रह-रहकर पूछने लगी—"आज तुम्हें हो क्या गया है, बताओ तो! कोई तकलीफ तो नहीं?"

नवेन्दुने बड़ी मुश्किलसे चेहरेपर हँसी लाकर देश-काल-पात्रोचित एक उत्तर निकालते हुए कहा—"तुम्हारे इलाकेमें मुझे तकलीफ किस बातकी, तुम तो मेरी धन्वन्तरिनौ हो !"

किन्तु उसी क्षण उनकी हँसी उड़ गई , और सोचने लगे, 'एक तो मैंने कांग्रेसको चन्दा दिया, और अखबारमें छपनेके लिए कड़ी चिट्ठी भी लिख दी, उसपर मजिस्ट्रेट खुद मुझसे मिलने आये सो उन्हें बिठा रखा, – न जाने मनमें वे क्या खयाल करते होंगे !' मन-ही-मन कहने लगे, 'हाय पिता, हाय पूर्णेन्दुशेखर ! मे असलमें जो नही हूँ, भाग्यके दोषसे, चक्करमें पड़कर वही मुझे होना पड़ा ! इस कुपुत्रको क्षमा करना ।'

दूसरे दिन वे खूब सजधजकर, घड़ीकी चेन लटकाकर, और सिरपर एक भारी पगड़ी रखकर निकल पड़े । लावण्य पूछ बैठी—"कहाँ चल दिये ?"

नवेन्दुने कहा—"एक जरूरी काम है – "

लावण्य कुछ नही बोली ।

मजिस्ट्रेट साहबके दरवाजेके आगे जाकर कार्ड निकालते ही अरदलीने कहा—"अभी मुलाकात नहीं होगी ।"

नवेन्दुने जेबमें से दो रुपये निकालकर अरदलीके हाथमें थमा दिये। अरदलीने संक्षेपमें सलाम करते हुए कहा—"हम पाँच आदमी है ।"

नवेन्दुने तुरत एक दस रुपयेका नोट निकालकर दे दिया ।

साहबके कमरेमें पुकार हुई । साहब तब स्लीपर और मॉर्निङ्ग-गाउन पहने कुछ लिख रहे थे । नवेन्दुने भीतर जाकर साहबको सलाम किया । साहबने उंगलीके इशारेसे उन्हे बैठनेकी इजाजत देते हुए बगैर मुँह उठाये ही कहा—"क्या कहना चाहते हैं, बाबू ?"

नवेन्दुने घड़ीकी चेन हिलाते-हुए विनीत कम्पित स्वरमें कहा—"कल आप मेहरवानी करके मुझसे मिलने पधारे थे, लेकिन—"

साहबने भौंहें चढ़ाकर लगभग एक आँखसे नवेन्दुकी ओर घूरते हुए कहा—"मैं मिलने गया था ! Babu, what nonsense you talking !"

नवेन्दु – "Beg your pardon ! गलती हुई, माफ कीजियेगा।" कहते-हुए पसीनेसे तर होकर किसी तरह बाहर निकल आये। और घर आकर उस दिन रात-भर बिस्तरपर पड़े-पड़े दूर-स्वप्नमें सुने मन्त्रकी तरह रह-रहकर सुनने लगे, "Babu, you are a howling idiot !"

वापस आते वक्त रास्तेमें उन्हें ऐसा लगा कि साहबने गुस्सेमें आकर उनसे मिलने आनेकी बात मंजूर नहीं की। और मन-ही-मन इतना पश्चात्ताप करने लगे कि जमीन फट जाय तो वे उसमें समा जायें। पर जमीन नहीं फटी और वे निर्विघ्न घर पहुंच गये।

लावण्यसे आकर बोले—"देश भेजनेके लिए गुलाब-जल लेने गया था।"

इतनेमें कलेक्टर साहबके पाँच-छै पियादे आ पहुँचे ; और सलाम करके मुसकराते हुए वे उनके मुँहकी तरफ देखने लगे। लावण्यने हँसते हुए कहा—"तुमने काग्रेसको चन्दा दिया है इसलिए गिरफ्तार करने तो नहीं आये ?"

पियादोंने दाँत फाड़ते हुए कहा—"बकसीस, बाबू साहब !"

नीलरतनने बगलके कमरेमेंसे निकलकर विरक्तिके स्वरमें कहा—"काहेकी बख्शीश ?"

पियादोंने पूर्ववत् दाँत निकालते हुए कहा—"बाबू सा'ब हुजूरसे मिलने गये थे, उसकी बकसीस—"

लावण्यने हँसते हुए कहा—"मजिस्ट्रेट साहब आजकल गुलाब-जल बेचने लगे हैं क्या ! ऐसा ठंडा रोजगार पहले तो उनके नही था !"

दुर्भाग्यग्रस्त नवेन्दुशेखर गुलाब-जलके साथ मजिस्ट्रेट-दर्शनका सामंजस्य रखनेके लिए क्या-क्या अंटसंट बक गये, किसीकी कुछ समझ ही में न आया।

नीलरतनने कहा—"बख्शीशका कोई काम नहीं हुआ। बख्शीश नहीं मिलेगी, जाओ।"

नवेन्दुने अत्यन्त संकोचके साथ जेबमेंसे एक नोट निकालकर कहा—"ये गरीब आदमी हैं, कुछ दे देनेमें हर्ज क्या है।"

नीलरतनने नवेन्दुके हाथसे नोट छीनते हुए कहा—"इनसे भी गरीब आदमी दुनियामें मौजूद हैं, ये रुपये मैं उन्हींको दूंगा।"

रुष्ट महेश्वरके भूत-प्रेतोंको भी कुछ ठंडा करनेका मौका हाथ न लगनेसे नवेन्दु बहुत ही परेशान और चिन्तित हो उठे। पियादे जब वज्रदृष्टि निक्षेप करते हुए जाने लगे तो नवेन्दु अत्यन्त करुणदृष्टिसे उनकी तरफ देखते रहे, और मन-ही-मन निवेदन करते रहे, 'मेरे भाइयो, मेरा कोई दोष नही, तुम तो देख ही रहे हो!'

कलकत्तामें कांग्रेसका अधिवेशन होनेवाला है। उसमें शरीक होनेके लिए नीलरतन सस्त्रीक कलकत्ता आये। नवेन्दु भी उनके साथ लौट आये।

कलकत्ता आते ही कांग्रेसी दलने नवेन्दुको चारों तरफसे घेरकर एक जबरदस्त ताण्डव शुरू कर दिया। सम्मान समादर और स्तुतिवादकी सीमा न रही। सभी कहने लगे, 'आप जैसे प्रतिष्ठित महानुभाव जब तक देशके काममें शरीक नही होते तब तक देशका उद्धार नहीं हो सकता।' बातकी असलियतको नवेन्दु अस्वीकार न कर सके, और इस गड़बड़ीमें सहसा कब वे देशके एक अधिनायक हो गये, खुद ही न समझ सके। कांग्रेसके पंडालमें जब उन्होंने पदार्पण किया तब सबके सब उठ खड़े हुए और विजातीय विलायती चीत्कारके साथ 'हिप हिप हुर्रे' की ध्वनि करके सबने उनका उत्कट अभिवादन किया। और, हमारी मातृभूमिके कर्णमूल लज्जासे रक्तिम हो उठे।

यथासमय महारानीका जन्म-दिन आया; और नवेन्दुका 'रायबहादुर' खिताब सामने दीखनेवाली मरीचिकाकी तरह न-जाने कहाँ बिला गया!

उस दिन शामको लावण्यलेखाने समारोहके साथ नवेन्दुको निमन्त्रण देकर, उन्हे नये वस्त्रोंसे विभूषित करके, अपने हाथसे उनके ललाटपर रक्त-चन्दनका तिलक किया, और प्रत्येक सालीने उनके गलेमे अपने हाथकी गुंथी पुष्पमाला पहना दी। अरुणाम्बर-वसना अरुणलेखा उस दिन हँसी शरम और अलंकारोंकी आड़मे चमचम चमकने लगी, उसके पसीनेसे तर और लज्जासे शीतल हाथोंमें एक गजरा देकर उसकी बहनें खींचातानी करने लगी,

पर वह किसी भी तरह काबूमें नहीं आई, और वह मुख्य माला नवेन्दुके गलेके लिए जनहीन निशीथ रात्रिके लिए छिपकर प्रतीक्षा करने लगी।

सालियोंने नवेन्दुसे कहा—"आज हमलोगोंने तुम्हें राजा बना दिया है। भारतवर्षमें ऐसा सम्मान तुम्हारे सिवा और-किसीको नहीं मिलनेका!"

नवेन्दुको इससे सान्त्वना मिली या नहीं, सो उनका अन्त करण और अन्तर्यामी ही जानें, पर हमलोगोंको इस विषयमें पूरा सन्देह ही रह गया। हमारा दृढ विश्वास है कि मरनेके पहले वे 'रायबहादुर' होकर ही रहेंगे; और उनकी मृत्युपर 'इंग्लिशमैन' और 'पायोनियर' समान स्वरमें शोक प्रकट किये बिना न रहेंगे। लिहाजा, हमारी तरफसे 'थ्री चीयर्स फॉर बाबू पूर्णेन्दुशेखर! हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे!'

आश्विन, १६५५]

—

आखिरी रात

१

"मौसी !"

"अब सो जाओ, यतीन, रात हो गई है ।"

"होने दो रात, मेरे दिन तो अब ज्यादा नही हैं। मै कह रहा था, मणिको मायके, – भूल गया, उसके मा-बाप अभी हैं कहाँ ?"

"सीतारामपुर ।"

"हाँ, सीतारामपुर, वही भेज दो उसे। अब वह कहाँ तक रोगीकी सेवा करती रहेगी ! उसकी तनदुरुस्ती भी तो उतनी अच्छी नही—"

"क्या कहते हो बेटा ! तुम्हें ऐसी हालतमे छोडकर वह जा कैसे सकती है !"

"डाक्टरोंने जो कहा है, सो क्या उसे—"

"उसे कुछ नहीं मालूम, – पर आँखोंसे तो देख रही है सब। उस दिन इशारेसे जरा मायके जानेकी बात कही थी, सो उसने रो-रोकर घर भर दिया ।"

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि मौसीकी इस बातमे सचाई नही थी। मणिमालाके साथ उस दिन जो मौसीकी बात हुई थी वह निम्न प्रकार है ।

"बहू, तुम्हारे मायकेसे कोई खबर आई है क्या ? तुम्हारे चचेरे भाई अनाथ आये थे न, क्या कहते थे वे ?"

"हाँ, माने कहला भेजा है, अगले शुक्रवारको मेरी छोटी बहनका अन्नप्राशन है। सो मै सोचती हूँ—"

"सो ठीक तो है, – तुम सोनेका एक हार भेज दो, तुम्हारी मा खुश हो जायेंगी ।"

"सोचती हूँ, मै चली जाऊँ। छोटी बहनको मैंने देखा नही, देखनेको जी चाहता है ।"

"ऐं! तुम कहती क्या हो! यतीनको अकेला छोड़कर चली जाओगी? डाक्टरोंने क्या कहा है, सो सुन लिया?"

"डाक्टर तो कहते थे कि अभी ऐसी कोई खास—"

"खैर, कुछ भी कहा हो, – तुम उसे ऐसी हालतमें छोड़कर जाओगी कैसे?"

"मेरे तीन भाइयोंके बाद एक यह बहन हुई है, – खबर आई है, बड़ी धूमधामसे यह अन्नप्राशन होगा। मै नही जाऊँगी तो मा बड़ी—"

"तुम्हारी माका हाल मेरी कुछ समझमें नहीं आता, बहू! लेकिन यतीनको इस हालतमें छोड़के जाओगी तो तुम्हारे पिता बहुत नाराज होंगे, सो समझ लेना!"

"सो तो मै जानती हूँ। तुम्हें एक चिट्ठी लिख देनी होगी, मौसीजी, कि कोई फिक्रकी बात नही; मेरे जानेमे कोई हर्ज नही—"

"तुम्हारे जानेसे कोई हर्ज नही, सो क्या मै नही जानती! पर तुम्हारे पिताको अगर कुछ लिखना ही हो, तो जो मेरे मनमें है सब खोलकर लिख दूंगी।"

"अच्छा, ठीक है, – तुम मत लिखो। मै उनसे जाकर कहती हूँ, वे तुरत—"

"देखो, बहू, मै बहुत सह चुकी हूँ, – इस बातको लेकर तुम यतीनके पास जाओगी तो मै हरगिज बरदाश्त नही कर सकती। तुम्हारे पिता तुम्हे अच्छी तरह जानते हैं, उन्हें तुम किसी भी तरह धोखा नही दे सकती।"

इतना कहकर मौसी चली आई। और मणिमाला कुछ देरके लिए नाराज होकर बिस्तरपर पड़ी रही।

पड़ोसीके घरसे उसकी सहेलीने आकर पूछा—"यह क्या बहन, गुस्सा क्यों?"

"देखो न, बहन, मेरी एक ही तो बहन है, उसके अन्नप्राशनमे ये लोग मुझे जाने नहीं देते!"

"हाय मैया, अभी तुम, कहाँ जाओगी, उन्हें इतना बीमार छोड़कर!"

"मैं तो कुछ करती नही, मुझसे कुछ करते बनता भी नही ; घरमें सबोंने ऐसी चुप्पी साध ली है कि मेरा दम घुटने लगता है। ऐसे मुझसे नही रहा जाता।"

"तुम भी एक अजीब औरत हो, धन्य है तुम्हें!"

"तुम कुछ भी कहो, बहन, मुझसे तुमलोगोंकी तरह लोग-दिखाऊ काम करते नहीं बनता। कही कोई कुछ उलटा न समझ ले, इस डरसे घरके एक कोनेमें पड़ा रहना मुझसे नही होता।"

"आखिर करना क्या चाहती हो?"

"मै जाऊँगी ही, मुझे कोई पकड़के नही रख सकता।"

"अच्छा! आज तो बड़ा तेज दिखा रही हो! अच्छा तो मै चल दी, मुझे काम है।"

२

मायके जानेकी बातपर मणि रोई थी, इस बातका पता लगते ही यतीन विचलित हो उठा ; और सिरहानेकी तरफ गाव-तकिया खसकाकर उसके सहारे जरा उठके बैठ गया। बोला—"मौसी, इस खिड़कीको और जरा खोल दो, – और इस बत्तीकी यहाँ जरूरत नही, ले जाओ।"

खिड़की खोलते ही स्तब्ध रात्रि अनन्त तीर्थपथके पथिककी तरह रोगीके दरवाजेके पास आकर चुपचाप खड़ी हो गई। न-जाने कितने युगके कितने मृत्युकालके साक्षी आकाशके तारे यतीन्द्रके मुँहकी ओर देखने लगे।

यतीन्द्र उस विशाल अन्धकार-पटपर अपनी मणिका चेहरा देखने लगा। उस चेहरेकी बड़ी-बड़ी दो आँखें पानीकी मोटी-मोटी बूंदोंसे भरी हैं। वह पानी खतम ही नही होना चाहता, मानो चिरकालके लिए भरा ही रह गया।

बहुत देर तक उसे चुप रहते देख मौसी कुछ निश्चिन्त हुई। सोचने लगी, उसे नीद आ गई है।

इतनेमें अचानक यतीन बोल उठा—"मौसी, तुम लेकिन बराबर सोचती आई हो कि मणिका मन चंचल है, हमारे घरमे उसका मन नही लगता। लेकिन देखो—"

"नहीं, बेटा, गलत समझा था मेने, – वक्त आनेपर ही असलियत मालूम होती है।"

"मौसी!"

"सो जाओ, बेटा!"

"मुझे जरा सोचने दो, जरा बात करने दो। उकताओ मत, मौसी!"

"नहीं, बेटा, बोलो, बोलो तुम, मे खूब ध्यानसे सुनूंगी।"

"मै कह रहा था, आदमीको अपना ही मन समझनेमें कितना समय लगता है! किसी दिन मै जब समझा करता था कि मणिका मन हम नहीं पा सके, तब उसे मै चुपचाप सह लिया करता था। तुमलोग तब—"

"नहीं, बेटा, ऐसी बात न कहो, – मेने भी सहा है।"

"पर मन तो मिट्टीका ढेल नहीं जो उठा लेनेसे ही मिल जायगा। मैं जानता था, मणिने अपने मनको अभी समझा ही नहीं, किसी-एक आघातसे जिस दिन समझेगी, – वह दिन अब—"

"ठीक बात है, बेटा।"

"इसीलिए उसके लड़कपनपर कभी मेने कुछ खयाल ही नहीं किया।"

मौसीने इस बातका कोई जवाब नहीं दिया। सिर्फ भीतर-ही-भीतर एक गहरी साँस लेकर रह गई। कितने ही दिन उन्होंने देखा है कि यतीन्द्रने बरंडेमें बैठे बैठे रात बिता दी है; वर्षाकी बौछार आई है फिर भी कमरेमे नहीं गया। कितने ही दिन वह सिर दबाये बिस्तरपर पड़ा रहता, और भीतरसे चाहता रहता कि मणि आकर जरा सिर दबा दे। मणि तब अपनी सखियोंके साथ दल बाँधकर थियेटर देखनेकी तैयारीमें लगी रहती। तब वे खुद यतीनको हवा करने आई हैं, पर यतीनने उन्हें विरक्तिके साथ लौटा दिया है। उस विरक्तिमें कितनी वेदना थी, सो उन्हें मालूम है। कितनी ही बार उन्होंने यतीनसे कहा है, 'बेटा, तुम उस लड़कीकी तरफ ज्यादा मन मत दो, – वह जरा चाहना सीखे, ऐसी स्त्रीको जरा रुलाना अच्छा, किन्तु ये सब बातें कहनेकी नही है, और कहनेसे कोई समझता भी नही। यतीनके मनमें नारी-देवताके लिए एक पीठस्थान था, वहीं उसने मणिको बिठा लिया है।

और उसके लिए यह सोचना भी सहज नही था कि उस तीर्थक्षेत्रमे नारीका अमृतपात्र हमेशा उसके लिए रीता ही रह सकता है। इसीसे उसकी तरफसे पूजा चालू थी, अर्घ्य ऊपर तक भरा जा रहा था, वर-प्राप्तिकी आशा पराभव नहीं मान रही थी।

मौसी जब फिर सोच रही थी कि यतीन सो रहा है, तब वह फिर सहसा बोल उठा—"मै जानता हूँ, मौसी, तुमने समझा था कि मणिको लेकर मै सुखी नहीं हो सका। इसीसे तुम उसपर नाराज रहती थी। लेकिन, मौसी, सुख चीज आकाशके उन तारो जैसी है, सारे अन्धकारको वह लेपे नहीं रखता, बीच-बीचमे जगह छोड देता है। जीवनमें हम न-जाने कितनी गलतियाँ करते हैं, कितना गलत समझते हैं, फिर भी उसकी संधोंमे क्या स्वर्गके दीप नही जलते? कहाँसे मेरा मन आज ऐसे आनन्दसे भर उठा है?"

मौसी आहिस्ते-आहिस्ते यतीनके माथेपर हाथ फेरने लगी। अँधेरेमे उनकी दोनों आँखोंसे जो टपटप आँसू गिर रहे थे उन्हें कोई देख ही न सका।

"मैं सोचता हूँ, मौसी, उसकी उमर कम है, वह क्या लेके रहेगी!"

"कम उमर क्यों है, यतीन? यह तो उसकी ठीक उमर है। हमने भी तो, बेटा, कम उमरमे ही देवताको संसारकी तरफ बहाकर अन्त करणमें बिठाया है, उससे क्या कोई नुकसान हुआ है? और मै तो कहती हूँ, सुखकी भी ऐसी ज्यादा जरूरत क्या है!"

"मौसी, मणिका मन जब कि जागनेको हुआ, मैं तब—"

"तुम क्यों सोच करते हो, बेटा? मन अगर जागा, तो वह क्या कम सौभाग्यकी बात है!"

सहसा बहुत दिन पहलेका सुना-हुआ एक पुराना गीत यतीनको याद आ गया—

"ओरे ओ मन, तू जगा नही तो!
(तेरे) दरपर आकर मनका मीत
लौट चला, यह कैसी रीत,
तू जगा नही तो!

(आज) आँख खुली तो अन्धकारमें।
खेल उठा, तब रहा हारमें।
तू जगा नहीं तो!"

"मौसी, घड़ीमें कितने बजे हैं?"

"नौ बजेंगे।"

"कुल नौ ही बजे हैं? मै सोच रहा था कि शायद दो तीन या और कुछ बजे होंगे। शामके बादसे ही मेरी आधी रात शुरू हो जाती है। तो तुम मुझे सुलानेकी जल्दी क्यों कर रही थी?"

"कल भी शामके बाद इस तरह बात करते-करते रातके दो बजा दिये थे, फिर तुम सोये ही कहाँ। इसीसे आज जल्दी सोनेको कह रही हूँ।"

"मणि सो गई क्या?"

"नहीं तो, वो तुम्हारे लिए मसूरकी दालका पानी बनाकर फिर सोने जायगी।"

"तुम कह क्या रही हो मौसी! तो क्या मणि—"

"वही तो तुम्हारे लिए सब पथ्य बनाया करती है। कामसे उसे फुरसत थोड़े ही मिलती है!"

"मैंने सोचा था कि मणि शायद—"

"औरतोंको ये सब बातें क्या सिखानी पड़ती हैं! काम पड़नेपर सब अपने आप ही करने लगती हैं।"

"आज दोपहरको जो जूस बना था उसमें बड़ा अच्छा सोंधापन था। मैंने समझा था, तुम्हारे ही हाथका बना है।'

"मेरे ऐसे भाग्य कहाँ! मुझे क्या बहू किसी कामसे हाथ लगाने देती है! तुम्हारा अंगोछा-तौलिया तक अपने हाथसे धोकर सुखा रखती है। जानती है न, तुम्हें जरा भी कहीं गन्दगी पसन्द नहीं। तुम अपनी बाहरकी बैठक देखोगे तो दंग रह जाओगे। दोनों वक्त अपने हाथसे झाड़-पोंछकर ऐसा चमचमाये रखती है कि देखते ही बनता है। मै उसे अगर इस कमरेमें आने देती न, तो देखते कि कैसा ऊधम मचाये रहती!"

"मणिकी तबीयत क्या—"

"डाक्टरोंका कहना है कि रोगीके कमरेमे उसका जाना-आना ठीक नही। उसका मन बड़ा नरम है, तुम्हारी तकलीफ देखनेसे वह बीमार पड़ जायगी।"

"मौसी, उसे तुम रोक कैसे रखती हो ?"

"मुझे बहुत मानती है न, इसीलिए। फिर भी बार-बार जाकर खबर देनी पड़ती है। मेरे लिए यह एक काम और बढ गया।"

आकाशके तारे मानो करुणा-विगलित आँखोंकी तरह चमकने लगे। जो जीवन आज विदा लेनेके पथपर आ खड़ा हुआ है, यतीनने उसे मन-ही-मन कृतज्ञताका नमस्कार किया; और सामने मृत्युने आकर अँधेरेमेसे जो अपना दाहना हाथ बढा दिया है, यतीनने स्निग्ध विश्वासके साथ उसपर अपना रोग-क्लान्त हाथ रख दिया।

एक साँस लेकर जरा इधर-उधर सरककर यतीनने कहा—"मौसी, मणि अगर जागती हो तो उसे एक बार—"

"अभी भेजती हूं, बेटा!"

"मै ज्यादा देर तक उसे इस कमरेमें नही रखना चाहता, सिर्फ पाँच मिनट, – दो-एक बात करनी है—"

मौसीने एक गहरी साँस ली, और मणिको बुलाने चली गई। इधर यतीनकी नाड़ी तेज चलने लगी। यतीन जानता है कि आज तक कभी भी वह मणिके साथ अच्छी तरह बात नही जमा सका। दो यन्त्रोंमें दो स्वर बँधे-हुए हैं, दोनोंका एकसाथ अलाप चलाना बड़ा कठिन है। मणि अपनी साथिनोंके साथ हरदम बतराती है, हँसती है, दूरसे उसीको सुनकर यतीन कितनी ही बार ईर्षासे पीडित होता रहा है। पर उसने बराबर अपनेको ही दोष दिया है, वह क्यों नही इस तरह मामूलीसे मामूली बातपर हँस-बोल सकता! और यह भी तो सच नही कि नही हँस-बोल सकता, अपने मित्रोसे तो वह इसी तरह बातें करता है, हँसता है। पर पुरुषोंकी मामूली बातोंसे

तो स्त्रियोंकी मामूली बातें मेल नहीं खातीं। कोई बडी बात हो तो अकेले ही लगातार कही जा सकती है, दूसरा कोई उस बातपर ध्यान दे रहा है या नहीं, इसकी परवाह नहीं भी की जाय तो कोई हर्ज नही, किन्तु तुच्छ बातोंमें तो दोनों तरफकी पूरी दिलचस्पी होनी चाहिए। बाँसुरी अकेली ही बज सकती है, पर मजीरेका ताल तो दोके मेलके बगैर जम ही नहीं सकता। यतीनने कितनी ही बार रातको खुले बरंडेमें चटाई बिछाकर मणिके साथ बातचीत जमानेकी कोशिश की है, पर कभी भी वह सफल नहीं हुआ। बातचीतका ताना-बाना हर बार टूट जाता और बीचमें छेद पड जाता। उसके बाद रातकी नीरवता मारे शरमके मानो गड-गड जाती। यतीन समझ जाता कि मणि वहाँसे किसी तरह भाग जाय तो जी तो जाय, और तब वह मन-ही-मन चाहने लगता कि बीचमें कोई तीसरा व्यक्ति आ जाय अच्छा हो।

यतीन सोचने लगा, मणि उसके पास आयेगी तो आज वह कैसे उससे बोलना शुरू करेगा। किन्तु सोची-हुई बातें जो अस्वाभाविक और लम्बी हो जाती हैं! वे तो कही नहीं जा सकतीं। उसे आशंका होने लगी कि आजकी रातकी पाँच मिनटें भी उसकी व्यर्थ चली जायेंगी।

२

"यह क्या, बहू, कहीं जा रही हो क्या ?"

"सीतारामपुर जाऊंगी।"

"कैसी बात कर रही हो तुम! किसके साथ जाओगी ?"

"अनाथके साथ।"

"लछमी-बेटी मेरी, तुम जाना, मै मना नही करूंगी; पर आज नही।"

"डब्बा जो रिजर्व हो चुका है!"

"हो जाने दो, उतना नुकसान सह लिया जायगा। तुम कल सवेरे ही चली जाना; आज मत जाओ!"

"मौसीजी, मै तुम्हारी साइत-वाइत नही मानती, – आज जानेमें दोष क्या है ?"

"यतीनने तुम्हे बुलाया है, तुमसे वह कुछ बात करना चाहता है।"

"अच्छी बात है, अभी तो वक्त है, मै उनसे कहे आती हूं।"

"नहीं, तुम यह नहीं कह सकतीं कि तुम जा रही हो।"

"अच्छी बात है, कुछ भी नही कहूंगी, पर मै देर नही कर सकती। कल ही अन्नप्राशन है, – आज न गई तो फिर कब जाऊंगी !"

"मै तुम्हारे हाथ जोड़ती हूं, बहू, मेरी बात आज एक दिनके लिए मान जाओ। आज अपने मनको जरा शान्त करके तुम यतीनके पास जाकर बैठो। जल्दबाजी न करो।"

"तो क्या करू बताओ, गाड़ी तो मेरे लिए खड़ी नही रहेगी। अनाथ बाहर गया है, – दस मिनट बाद वह आकर मुझे ले जायगा। इस बीचमे मै उनसे मिल आती हूं।"

"नही, रहने दो, – तुम जाओ। इस तरह मै तुम्हें उसके पास नही जाने दूंगी। अरी ओ अभागिन, तूने जिसे इतना दुःख दिया है वह तो सब-कुछ विसर्जन देकर आज बाद कल चला ही जायगा, – पर तू जब तक जीयेगी, आजके दिनकी बात तुझे हमेशा याद रखनी होगी, – भगवान हैं, भगवान हैं, एक दिन तू समझेगी इस बातको !"

"मौसी, तुम इस तरह श्राप मत दो कहे देती हूं !"

"हाय हाय, अब और कितना देखना पड़ेगा, भगवान ! पापका कोई अन्त ही नही ! हाय भगवान ! आजकी रात भी न रुकी !"

मौसी कुछ देर करके रोगीके कमरेमे गई। आशा थी कि यतीन सो जायगा। पर कमरेसे घुसते ही देखा कि वह बिस्तरपर हिल उठा।

मौसीने कहा—"ऐसी भी क्या शरम !"

"क्यों क्या हुआ ? मणि नही आई ? तुम्हे इतनी देर क्यों हो गई, मौसी ?"

"जाके देखा तो रसोईमें बैठी रो रही है बहू ! क्या बात है, न, उससे तुम्हारा दूध जल गया है। मैंने कहा, 'सो क्या हो गया। और भी तो दूध है।' पर, उसकी असावधानीसे जो दूध जल गया है, शरमका क्या ठिकाना ! खैर, आखिर मै उसे बिस्तरपर सुला आई, आज नहीं लाई। आज उसे जरा सो लेने दो।"

मणिके न आनेसे एक तरफ जैसे उसे चोट पहुँची, वैसे दूसरी ओर कुछ आराम भी मिला। उसके मनमें आशंका थी कि कहीं मणि स्वयं सशरीर आकर उसके मनकी मणि-ध्यान-माधुरीके प्रति जुल्म न कर जाय। क्योंकि उसके जीवनमें ऐसा बहुत बार हो चुका है। दूध जला देनेसे मणिका कोमल हृदय व्यथित हो उठा है, उसीके रससे उसका हृदय भर उठा।

"मौसी !"

"क्या, बेटा !"

"मै खूब समझ रहा हूं, मेरे दिन अब खतम हो आये हैं। पर, मेरे मनमे किसी तरहका खेद नहीं। मेरे लिए तुम शोक मत करना।"

"नहीं, बेटा, शोक नहीं करूंगी। जीवनमें ही मंगल है और मरणमें नहीं, ऐसा मै नहीं मानती।"

"मौसी, मै तुमसे सच कहता हूं, मृत्यु मुझे मधुर मालूम हो रही है।"

यतीन्द्र अन्धकारमय आकाशकी ओर देख रहा था, उसकी मणि ही आज मृत्युका वेश धरकर आ खडी हुई है। वह आज अक्षय यौवनसे पूर्ण है, – वह गृहिणी है, जननी है ; वह रूपवती है, कल्याणमयी है। उसीके बिखरे-हुए बालोंपर आकाशके तारे आज ऐसे दिखाई दे रहे हैं जैसे स्वयं लक्ष्मीके हाथकी गुंथी आशीर्वादकी माला हो। दोनोंके माथेके ऊपर मानो अन्धकारका मंगल-वस्त्र तन गया हो और उसके नीचे फिरसे मानो शुभदृष्टि हो रही हो। आजकी रातका यह विपुल अन्धकार मानो मणिके प्रेमके अनिमेष दृष्टिपातसे भर उठा। इस घरकी बहू मणिने, इस छोटी-सी मणिने, मानो आज विश्वका रूप धारण कर लिया ; मानो वह जीवन-मरणके संगम-तीर्थमें उस नक्षत्र-वेदीपर जा बैठी हो। निस्तब्ध रात्रि मंगल-घटकी तरह पुण्यधारासे

भर उठी। यतीन्द्रने हाथ जोड़कर मन-ही-मन कहा, 'इतने दिन बाद घूंघट खुला, इस घोर अन्धकारमें आवरण दूर हो गया, – बहुत रुलाया है,– सुन्दर, हे सुन्दर, अब तुम मुझे धोखा नही दे सकते।'

८

"तकलीफ तो हो रही है, मौसी, पर जैसा तुम सोचती हो वैसा कुछ नही। मेरे साथ मेरी पीड़ाका क्रमश मानो विच्छेद-सा होता जा रहा है। मालसे लदी नावकी तरह मणि अब तक मेरे जीवन-जहाजके साथ बॅधी थी , आज उसका बन्धन मानो टूट गया है, अब वह अपना सारा बोझ लिये मुझसे दूर बही चली जा रही है। अब भी वह मुझे दिखाई दे रही है, पर अब वह मुझे अपनी नही मालूम होती। – इधर दो दिनसे मणिको बिलकुल देखा नहीं, मौसी!"

"पीठके पास और-एक तकिया लगा दूं बेटा ?"

"अब मुझे ऐसा लग रहा है, मौसी, कि मणि भी चली गई है,– मेरी बन्धन-छिन्न दु खकी नावकी तरह।"

"बेटा, जरा-सा बेदानाका रस पी लो, तुम्हारा कंठ सूखा जा रहा है।"

"मौसी, मेरा वसीयतनामा कल लिखा जा चुका है,–मैने तुम्हे दिखाया है क्या, याद नही पड़ता।'

"मेरे देखनेकी क्या जरूरत है, बेटा!"

"मेरी मा जब मरी थीं तब मेरे पास कुछ भी नही था। तुम्हारा ही खा-पीकर तुम्हारे ही हाथों इतना बड़ा हुआ हूं। इसीसे कह रहा था—"

"कैसी बात कर रहे हो, बेटा! मेरे तो सिर्फ एक मकान और थोड़ी-सी सम्पत्ति थी। बाकी तो सब तुम्हारी अपने हाथकी कमाई है।"

"लेकिन यह मकान—"

"काहेका मेरा मकान! सब-कुछ तो तुम्हीने बढ़ाकर इतना बड़ा किया है, मेरा जरा-सा पुराना मकान तो अब इसमें ढूंढे ही नही मिलेगा।"

"मणि तुम्हें भीतरसे बहुत—"

"सो क्या मै नही जानती। अब तुम सो जाओ बेटा।"

"मैने मणिके नाम सब लिख तो दिया है ; पर रहा सब तुम्हारा ही, मौसी! मणि तुम्हारा अनादर कभी भी नहीं करेगी।"

"उसके लिए तुम इतनी चिन्ता क्यों करते हो?"

"तुम्हारा आशीर्वाद ही मेरे लिए सब-कुछ है, तुम मेरा वसीयतनामा देखकर कभी ऐसा खयाल न लाना—"

"नहीं, बेटा। अपनी चीज तुम मणिको दे रहे हो, इसमें मैं क्यों कुछ खयाल करने लगी! अपनी चीज तुम उसके नाम लिखे जाते हो, इसमें जो तुम्हें सुख मिल रहा है, वही मेरे लिए सबसे बढकर है, बेटा!"

"लेकिन तुम्हारे लिए भी मैने—"

"देखो, बेटा, अब मै गुस्सा हो जाऊंगी। तू चला जायगा, और मुझे तू रुपया देकर बहला जायगा क्यो!"

"मौसी, रुपयेसे बहुत बड़ी चीज अगर—"

"दी है, बेटा, बहुत बड़ी चीज दी है। मेरा सूना घर तूने भर दिया था, यह मेरे बहुत जन्मोंका पुण्य था। अब तक मैने इतना पाया था कि मेरी छाती भर गई थी। आज अगर मेरी फूटी तकदीरसे मेरा पावना खतम ही हो गया हो, तो मै उसकी किसीसे फरियाद नहीं करूंगी। लिख दो, तुम सब-कुछ मणिके नाम लिख दो, घर-द्वार, चीज-वस्त, जमीदारी, सब-कुछ उसीके नाम लिख दो, बेटा! मुझसे अब इतना बोझ ढोते नही बनेगा।"

"तुम्हें सासारिक किसी चीजसे रुचि नही,—लेकिन मणिकी उमर कम है, इसीसे—"

"ऐसा न कह, बेटा, ऐसा न कह। धन-सम्पत्ति देना चाहता है, दे दे, पर रुचिसे भोगना—"

"क्यों नहीं भोगेगी, मौसी?"

"नही रे नहीं, नहीं भोग सकती, नही भोग सकती! मै कहती हूँ, तेरे पीछे उसे फिर कुछ भी नही रुचेगा! गला सूखके काठ हो जायगा, किसी चीजमें कोई रस ही नहीं मिलेगा।"

यतीन चुप रहा। सोचकर वह कुछ निर्णय ही न कर सका कि उसके अभावमें मणिके लिए यह संसार बिलकुल स्वादहीन नीरस हो जायगा – यह बात सच है या झूठ, सुखकी है या दु खकी! आकाशके तारोंने मानो उसके हृदयमे आकर चुपकेसे कहा, 'हम तो हजारों-लाखों वर्षोंसे देखते आ रहे है, संसार-भरके ये सारेके सारे आयोजन बिलकुल धोखा है धोखा!'

यतीनने गहरी एक साँस ली; और उसके मुँहसे निकल गया—"देने लायक चीज तो हम कुछ दे ही नही जा सकते।"

"कम क्या दिया है, बेटा! अपना सब-कुछ जो तुम उसे दिये जा रहे हो, इसकी कीमत क्या वह कभी भी नही समझेगी! जो तुमने दिया है उसे सिर झुकाकर लेनेकी शक्ति विधाता उसे दें, यही मेरा आशीर्वाद है उसके लिए।"

"और थोड़ा-सा बेदानाका रस दो, मौसी, मेरा गला सूखा जा रहा है। मणि क्या कल आई थी, – मुझे ठीक याद नहीं पड़ता!"

"आई थी। तब तुम सो गये थे। सिरहानेके पास बैठी-बैठी बहुत देर तक हवा करती रही, – फिर धोबीको कपडे देने चली गई।"

"आश्चर्य है। शायद मै उस समय स्वप्न देख रहा था, मणि मेरे पास आना चाहती है, दरवाजा जरा-सा खुला है, वह खोलनेकी कोशिश कर रही है, पर उससे खुल नही रहा है। लेकिन, मौसी, तुम बहुत ज्यादती कर रही हो, – उसे देखने दो कि मै मर रहा हूँ, – नहीं तो मृत्यु सहसा उससे सही नहीं जायगी।"

"बेटा, तुम्हारे पाँवोपर दुशाला डाल दू, तलवे ठंडे हो रहे हैं।"

"नही, मौसी, देहपर ओढ़ना सुहाता नही।"

"तुम्हें मालूम है, बेटा, खासकर तुम्हारे लिए रात-रात-भर जागकर मणिने यह दुशाला काढा है! कल ही तो पूरा किया है। कैसा अच्छा काम किया है देखो!"

यतीनने दुशाला लेकर दोनों हाथोंसे उसे उलट-पुलटकर देखा। उसे ऐसा लगा जैसे ऊन और रेशमकी कोमलता मणिके मनकी चीज हो। उसने

यतीनकी याद करके रात-रात-भर जागकर ऐसा सुन्दर काम किया है, उसके मनकी प्रेमकी वह भावना इसके साथ गुंथ गई है। सिर्फ ऊन-रेशम ही नहीं, मणिकी कोमल उंगलियोंका स्पर्श भी इसमें मौजूद है। इसीसे, मौसीने जब उसके पैरोंपर दुशाला डाल दिया तो उसे ऐसा लगा कि मानो मणि ही उसकी पदसेवा कर रही हो।

"लेकिन, मौसी, मै तो समझता था कि मणि कढाईका काम जानती ही नहीं; उसे अच्छा ही नहीं लगता यह-सब!"

"मन लगाकर सीखे तो देर क्या लगती है! उसे बताना पड़ा है, इसमें गलतियाँ भी हैं, फिर भी—"

"होने दो गलतियाँ। इसे तो पैरिसकी नुमाइशमें नहीं भेजना, – गलत कढ़ाईसे भी मेरे पाँव मजेमें ढके जा सकते हैं।"

'कढाईमें बहुत-सी गलतियाँ हैं' इस बातका खयाल करके यतीनको और भी ज्यादा आनन्द मिला। बेचारी मणि जानती नहीं, बार-बार गलती करती है, उसे आता नहीं, फिर भी धीरजके साथ रात-रात-भर जागकर काढ़ती रही है, इस बातकी कल्पना उसे अत्यन्त करुण और मधुर मालूम होने लगी। उस भूल-भरे दुशालेको फिर वह उलट-पुलटकर देखने लगा।

"मौसी, डाक्टर क्या नीचे बैठा है?"

"हाँ, बेटा, आज रातको वे यहीं रहेंगे।"

"लेकिन मुझे व्यर्थमे सोनेकी दवा न दी जाय। तुम तो देख ही रही हो, उससे मुझे नींद नहीं आती, सिर्फ तकलीफ बढ जाती है। मुझे अच्छी तरह जगते रहने दो। तुम्हें याद है, मौसी! वैसाखकी शुक्ला-द्वादशीको हमारा विवाह हुआ था, – कल वही द्वादशी आ रही है, – कल उस दिनकी रातके सब तारे आकाशमें जलेंगे। मणिको शायद याद नहीं है, – मै उसे आज उस बातकी दिला देना चाहता हूँ; तुम उसे सिर्फ दो मिनटके लिए मेरे पास भेज दो। चुप क्यों हो गई? शायद डाक्टरने तुमलोगोंसे कह दिया होगा कि मेरा शरीर कमजोर है, इस वक्त मेरे मनमें किसी तरहका, –

लेकिन, मै तुमसे निश्चित कहता हूं, मौसी, आज रातको उसके साथ दो-चार बातें हो जानेसे मेरा मन अत्यन्त शान्त हो जायगा, -तब फिर शायद सोनेकी दवा भी नहीं देनी पड़ेगी। मेरा मन उससे कुछ कहना चाहता है-इसीसे कल-परसों दो रात मुझे नींद नहीं आई। मौसी, तुम इस तरह रोओ मत। मैं अच्छा हूँ, मेरा मन आज आनन्दसे भर उठा है, मेरे जीवनमे ऐसा और कभी भी नहीं हुआ। इसीलिए मै मणिको बुला रहा हूँ। मालूम होता है आज अपना परिपूर्ण हृदय उसके हाथ सौंप जा सकूँगा। उससे बहुत दिन बहुत-सी बातें करनेको मेरा जी चाहा था, नहीं कर सका, किन्तु अब एक क्षणकी भी देर नहीं कर सकता ; उसे अभी तुरत बुला दो, - इसके बाद फिर समय नहीं मिलेगा। नही, मौसी, तुम्हारा यह रोना मुझसे नही सहा जाता। इतने दिन तो शान्त थीं, आज क्यों तुम ऐसी हो रही हो ?"

"अरे बेटा, सोचा था, मेरा सारा रोना खतम हो चुका, - पर आज देख रही हूँ, अभी और बाकी है, आज लाचार हो गई हूँ, सहा नहीं जाता।"

"मणिको बुला दो, - उससे कह दूंगा, कलकी रातके लिए वह—"

"जाती हूँ, बेटा! शम्भू दरवाजेके पास खड़ा है, जरूरत पड़े तो उसे बुला लेना।"

मौसी मणिके कमरेमें जाकर जमीनपर बैठ गई, पुकारने लगीं—"अरी ओ अभागिन! आ, आ, अब भी आ जा, - एक बार आ जा। आ री डाइन, जिसने तुझे अपना सब-कुछ दे डाला है उसकी आखिरी बात तो रख दे,- वह मरने बैठा है, अब तो तू उसे न मार।"

यतीन पैरोंकी आहटसे चौंक पड़ा, बोला—"मणि!"

"नहीं, बाबू सा'ब, मै सम्भू हूं। मुझे बुला रहे थे ?"

"एक बार अपनी 'बहूजी'को तो बुला ला।"

"किसको ?"

"बहूजीको।"

"वे तो अभी आई नही।"

"कहाँ गई है ?"

"सीतारामपुर।"

"आज गई हैं ?"

"नही तो, आज तीन दिन हो गये।"

क्षण-भरके लिए यतीनका सारा शरीर कंटकित हो उठा, उसकी आँखोके आगे अँधेरा छा गया। अब तक तकियेके सहारे वैठा था, अब पड़ रहा। पैरोंपर दुशाला पड़ा था, उसे हटाकर नीचे डाल दिया।

बहुत देर बाद मौसी आई। यतीनने मणिका कोई जिक्र ही नही छेड़ा। मौसीने सोचा कि वह भूल गया होगा।

बहुत देर बाद सहसा यतीन बोल उठा—"मौसी, मैंने तुमसे उस दिनके अपने सपनेकी बात कही है क्या ?"

"कौन-सा सपना ?"

"मणि बाहरसे मेरे कमरेका दरवाजा खोलनेकी कोशिश कर रही है, जरा-सा खुला, फिर खुला ही नहीं उससे; वह बाहर खड़ी-खड़ी देखती रही, किसी भी तरह भीतर नहीं आ सकी। मणि हमेशाके लिए मेरे घरके बाहर ही खड़ी रह गई। मैने उसे बहुत बुलाया, पर यहाँ उसके लिए जगह ही नही हुई।"

मौसी कुछ जवाब न देकर चुप रह गई। सोचने लगी, 'यतीनके लिए झूठसे जो मै स्वर्ग रच रही थी वह भी न टिक सका। दुःख जब आये तो उसे स्वीकार कर लेना ही अच्छा है, प्रवंचना करके विधाताकी मारको रोकनेकी कोशिश करना बिलकुल व्यर्थ है।'

"मौसी, तुमसे जो मैने स्नेह पाया है वह मेरे लिए जन्म-जन्मान्तर तकका तोशा है, उसे मै प्राण भरकर लिये जा रहा हूँ। अगले जन्ममे तुम जरूर मेरी लड़की होकर पैदा होगी, मै तुम्हें छातीसे लगाकर पालूंगा-पोसूँगा।"

"तू कहता क्या है, यतीन, फिर मुझे लड़की होकर जन्म लेना पड़ेगा!

नही नहीं, अगले जनममें तेरी ही गोदमें लड़का होकर खेलूँ, भगवानसे तू यही मना, बेटा !'

"नहीं नही, लड़का नही। बचपनमे तुम जैसी सुन्दरी थी वैसी ही अपूर्व सुन्दरी होकर तुम मेरे घरमें आओगी। मुझे सब याद है, मै तुम्हें कैसे-कैसे सजाऊँगा !"

"अब न बोल, बेटा,— जरा सो ले।"

"तुम्हारा नाम रखूँगा लक्ष्मी-रानी।"

"यह तो आधुनिक नाम नही हुआ।"

"नहीं, आधुनिक नाम नही चाहिए। मौसी, तुम मेरी प्राचीनकालकी ही रहोगी,— अपने प्राचीनकालको लेकर ही तुम आना मेरे घर।"

"तेरे घर मै कन्या-दायका दु ख लेकर आऊँ,— ऐसी कामना तो मै नहीं कर सकती।"

"मौसी, तुम मुझे कमजोर समझती हो ?— मुझे दु:खसे बचाना चाहती हो ?"

"बेटा, मेरा जो औरतोंका मन ठहरा, मै ही कमजोर हूँ, इसीलिए हमेशा मैंने डरते-डरते तुझे सब दु खोंसे बचानेकी कोशिश की है। पर मेरी सामर्थ क्या है, मैं क्या कर सकती हूँ ! कुछ भी नहीं।"

"मौसी, इस जीवनकी शिक्षाको मै इस जीवनमें काममें न ला सका ; समय ही नहीं मिला इतना। पर, सब-कुछ जमा रहा, अगले जन्ममें दिखा दूँगा कि आदमी क्या कर सकता है। हमेशा अपनी ही तरफ देखते रहना कितना बड़ा धोखा है, सो मैं समझ गया हूँ।"

"कुछ भी कहो, बेटा, तुमने खुद कुछ भी नहीं लिया, सब दूसरोंको ही बाँट दिया।"

"मौसी, एक गर्व मै करूँगा, मैने सुखपर कोई जबरदस्ती नही की, कभी किसी दिन यह नहीं कहा कि जहाँ मेरा हक है वहाँ मै जबरदस्ती करूँगा। जो नहीं मिला, उसके लिए छीनाझपटी नही की ; मैने वही चीज चाही थी जिस पर किसीका भी स्वत्व नहीं,— जीवन-भर हाथ जोड़कर प्रतीक्षा ही करता रहा ;

असत्यको नही चाहा, इसीलिए तो इतने दिनों तक बैठा रहना पड़ा मुझे। अब सत्य शायद दया कर सकता है। —वो कौन, मौसी, वो कौन है ?"

"कहाँ, कोई भी तो नहीं, बेटा !"

"मौसी, तुम एक बार जरा देख तो आओ उस कमरेमें जाकर, मुझे ऐसा लगता है कि—"

"नही, बेटा, कोई तो नही मालूम होता।"

"मैं लेकिन स्पष्ट—"

"कुछ नहीं, यतीन,— डाक्टर आ रहे हैं।"

"देखिये, आप इनके पास रहती हैं तो ये बहुत ज्यादा बात करते हैं। इसी तरह जगते-जगते कई रातें बीत गईं। आप सोने जाइये। मेरा यह आदमी यहाँ रहेगा।"

"नही, मौसी, नही, तुम नहीं जा सकती।"

"अच्छा, बेटा, नही जाउंगी, — मै उस कोनेमें जाकर बैठती हूं, ऍं !"

"नहीं नहीं, तुम मेरे पास ही बैठी रहो, — मै तुम्हारा यह हाथ हरगिज नही छोडूंगा,— आखिर तक नही। मै जो तुम्हारे ही हाथका आदमी हूं, मौसी, तुम्हारे ही हाथसे भगवान मुझे लेंगे।"

"अच्छी बात है, मगर आप बात न कीजिये, यतीन-बाबू ! दवा पीनेका वक्त हो गया—"

"वक्त हो गया ! झूठ बात है। वक्त पार हो गया है ! अब दवा पिलाना महज धोखा देकर तसल्ली पाना है। मुझे उसकी जरूरत नहीं। मैं मरनेसे नही डरता। मौसी, खास यमराजका इलाज चल रहा है, उसके ऊपर फिर ये सब डाक्टर क्यों इकट्ठे कर रही हो,— विदा करो, विदा कर दो सब डाक्टरोंको। अब मेरी एकमात्र तुम हो, — अब मुझे और-किसीकी भी जरूरत नहीं, किसीकी भी नही, — किसी भी झूठकी जरूरत नहीं मुझे।"

"आपकी यह उत्तेजना अच्छी नही, यतीन-बाबू !"

"तो तुमलोग जाओ, मुझे उत्तेजित न करो। — मौसी, डाक्टर गये

सब ? – अच्छा, तो तुम बिस्तरपर मेरे पास बैठ जाओ, – मै तुम्हारी गोदमें सिर रखकर जरा सो जाऊं।"

"अच्छा, सोओ बेटा, मेरे राजा-बेटा, जरा सो जाओ।'

"नही, मौसी, सोनेको न कहो मुझे, – सोते-सोते फिर शायद नींद ही न टूटेगी। अब भी और कुछ देर मेरा जगना बाकी है। तुम्हें आवाज नहीं सुनाई देती ? सुनो, कोई आ रहा है! अभी आ जायगा।"

५

"बेटा यतीन, आँख खोलो, देखो, वो आ गई। एक बार देखो!"

"कौन आया ? सपना ?"

"सपना नही, बेटा, मणि आ गई, – तुम्हारे ससुर भी आये हैं।"

"तुम कौन हो ?"

"पहचाना नहीं, बेटा, यही तो है तुम्हारी मणि!"

"मणि, वो दरवाजा क्या पूरा खुल गया ?"

"नहीं, मौसी, मेरे पाँवोंपर यह दुशाला न डालो, इसे रहने दो, झूठा है यह दुशाला, धोखा है यह दुशाला!"

"दुशाला नहीं, बेटा! बहू तुम्हारे पाँवोंपर पड़ी है, – उसके माथेपर हाथ रखकर जरा आशीर्वाद दे दो। – ऐसे न रोओ, बहू, रोनेका समय आ रहा है, – इस समय जरा चुप रहो।"

आश्विन, १९७१]

पड़ोसिन

मेरी पड़ोसिन बाल-विधवा है। उसकी तुलना शरदऋतुके ओससे-भीगे डंठलसे-गिरे हरसिंगारसे की जा सकती है; वह सुहाग-रातकी पुष्पशय्याके लिए नहीं, केवल देव-पूजाके लिए ही है।

उसकी मैं मन-ही-मन पूजा किया करता था। उसके प्रति मेरे मनका भाव कैसा था, उसे मे 'पूजा' के सिवा और-किसी सहज भाषामे प्रकट नही करना चाहता, – दूसरोंके आगे तो कतई नही, अपने प्रति भी नही।

नवीन मेरा अन्तरंग प्रियमित्र है, उसे भी इस विषयमे कुछ नही मालूम। और इस तरह मेने जो अपने गभीरतम आवेगको छिपाकर निर्मल बनाये रखा था, इसके लिए मै भीतर-ही-भीतर गर्व अनुभव किया करता था।

किन्तु, मनका वेग पार्वती नदीकी तरह अपने जन्म-शिखरमें आवद्ध नही रहना चाहता। किसी भी एक रास्तेसे वह बाहर निकलनेकी कोशिश करता है। और इसमे अगर वह सफल नही होता तो भीतर-ही-भीतर वेदनाकी सृष्टि करता रहता है। इसीसे, मै सोच रहा था कि कवितामें अपने भाव प्रकट करूं। किन्तु कुण्ठिता लेखनीने मेरा साथ नही दिया।

परम आश्चर्यका विषय यह है कि ठीक इसी समय मेरे मित्र नवीनको अकस्मात् प्रवल वेगसे कविता लिखनेका शौक चर्रा उठा, अकस्मात् जैसे भूकम्प आता है वैसे।

उस बेचारेपर ऐसी दैवी विपत्ति पहले कभी नहीं आई थी, इसलिए ऐसी नई हलचलके लिए वह कतई तैयार न था। उसके पास छन्द या तुककी जरा भी पूंजी नही थी, फिर भी वह रुका नही, यह देखकर मै आश्चर्यमे पड गया। कविता उसपर वृद्धावस्थाकी तरुणी भार्याकी तरह सवार हो गई। आखिर उसे छन्द और तुककी सहायता और संशोधनके लिए मेरी ही शरण लेनी पड़ी।

कविताओंके विषय नये नहीं थे, और न पुराने ही। अर्थात् उन्हें चिरनवीन भी कहा जा सकता है और चिरपुरातन भी। प्रेमकी कविताएँ थी, प्रियतमाके प्रति। मैने कोहनीका एक धक्का देकर उससे पूछा—"आखिर है कौन, बताओ भी तो?"

नवीनने हँसकर कहा—"अभी तक पूरा पता नहीं लगा पाया।"

कविता-रचयिता नवीनके इस काममें सहायता करनेमें मुझे बड़ा आराम मिलने लगा। नवीनकी काल्पनिक प्रियतमाके प्रति मै अपने रुके-हुए आवेगका प्रयोग करने लगा। बिना बच्चेकी मुरगी जैसे बतकका अंडा पा जानेपर भी उसको छातीके नीचे रखकर सेने लगती है, अभागा मै भी उसी तरह नवीनके भावोंको अपने हृदयका सारा उत्ताप देकर सेने बैठ गया। अनाड़ीकी लिखी कविताओंका ऐसे जोरोंसे संशोधन करने लगा कि वे लगभग पन्दह-आने मेरी ही कविता हो उठीं।

नवीन विस्मित होकर कहता—"ठीक यही बात मै लिखना चाहता था, पर लिख नहीं पाता। आश्चर्य है तुममे ये-सब भाव कहाँसे आ जाते है!"

मै कविकी तरह जवाब देता—"कल्पनासे। कारण, सत्य नीरव होता है, और कल्पना होती है मुखरा। असलमें सत्य-घटना भावस्रोतको पत्थरकी तरह दबा रखती है, कल्पना ही उसका मार्ग खोल देती है।"

नवीन गम्भीर होकर जरा सोचता, और कहता—"बात तो ऐसी ही है। बिलकुल ठीक कह रहे हो।" फिर कुछ देर सोचकर कहता—"ठीक बात है, बिककुल ठीक बात है।"

मै पहले ही कह चुका हूं कि मेरे प्रेममें एक तरहका कातर संकोच है; इसीसे अपनी तरफसे मै कुछ भी नही लिख सकता। नवीनको परदेकी तरह बीचमें रखकर तब कहीं मेरी लेखनी अपना मुंह खोल सकी है। मेरे द्वारा संशोधित कविताएँ मानो रससे परिपूर्ण होकर उत्तापसे फटने लगीं।

नवीनने कहा—"ये तो तुम्हारी ही कविताएँ हैं। तुम्हारे ही नामसे प्रकाशित कराता हूँ।"

मैने कहा—"खूब कहा ! मूल रचना तो तुम्हारी ही है, मैने तो सिर्फ थोड़ा-सा संशोधन कर दिया है।"

क्रमशः नवीन भी ऐसा ही समझने लगा।

ज्योतिर्विद जैसे नक्षत्रोदयकी प्रतीक्षामें आकाशकी तरफ देखा करता है, मै भी उसी तरह कभी-कभी अपनी पड़ोसिनकी खिड़कीकी तरफ देखा करता था, इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकता। कभी-कभी भक्तका वह व्याकुल दृष्टिपात सार्थक भी हो जाया करता था। उस कर्मयोग-निरता ब्रह्मचारिणीकी सौम्य मुखश्रीसे शान्त-स्निग्ध ज्योति प्रतिबिम्बित होकर क्षणमें मेरे सम्पूर्ण चित्त-क्षोभको दूर कर देती थी।

किन्तु, उस दिन सहसा मैने यह क्या देखा! मेरे चन्द्रलोकमें भी क्या अब भी अग्न्युत्पात मौजूद है! वहाँका जनशून्य समाधि-मग्न गिरि-गुफाओंका सम्पूर्ण अग्निदाह क्या अभी तक पूरा बुझा नही!

उस दिन बैसाखके अपराह्नमें ईशान-कोनमें मेघ इकट्ठे हो रहे थे। उस आसन्न झंझाकी मेघ-विच्छुरित रुद्र-दीप्तिमें मेरी पड़ोसिन खिड़कीके पास अकेली खड़ी थी। उस दिन उसकी शून्य-मग्न घन-कृष्ण दृष्टिमें कैसी तो एक सुदूर-प्रसारित निविड वेदना दिखाई दी।

है; मेरे उस चन्द्रलोकमें अब भी उत्ताप है। अब भी वहाँ गरम साँसें चलती हैं। देवताके लिए नही, आदमीके लिए। उसकी उन आँखोंकी विशाल व्याकुलता उस दिनके उस आँधीके प्रकाशमें व्यग्र पक्षीकी तरह उडी जा रही थी। स्वर्गकी ओर नही, मानव-हृदय-नीडकी ओर।

उस उत्सुक आकाक्षासे उद्दीप्त दृष्टिके देखनेके बाद फिर मेरे लिए अपने अशान्त चित्तको स्थिर रखना कठिन हो गया। तब फिर दूसरेकी कच्ची कविताओंका संशोधन करके तृप्ति नही हुई,— मेरे अन्दर भी कुछ-न-कुछ काम करनेकी चंचलता पैदा हो गई।

तब मैने संकल्प किया कि भारतमें विधवा-विवाह प्रचलित करनेके लिए मै अपनी पूरी शक्तिका-प्रयोग करूंगा। सिर्फ व्याख्यान और लेख लिखकर ही शान्त नही हुआ, जरूरत पडनेपर आर्थिक सहायता भी देने लगा।

नवीन मेरे साथ बहस करने लगा। उसने कहा—"चिर-वैधव्यमें एक प्रकारकी पवित्र शान्ति है, एकादशीकी क्षीण ज्योत्स्नालोकित समाधि-भूमिके समान उसमे एक विराट रमणीयता है, विवाहकी सम्भावनासे क्या वह नष्ट नही हो जाती ?"

ऐसी कवित्वकी बातें सुनते ही मुझे गुस्सा आ जाता है। मैं पूछता हूं, दुर्भिक्षसे जो आदमी सूख-सूखकर मर रहा हो, उसके आगे आहारसे पुष्ट कोई आदमी यदि भोजनकी स्थूलताके प्रति घृणा प्रकट करता-हुआ फूलकी सुगन्ध और पक्षियोके गीतका बखान करके उसीसे उस मुमूर्षुका पेट भरना चाहे तो कैसा हो ?

मैने गुस्सेमें आकर कहा—"देखो नवीन, कलाकार कहते हैं, दृश्यके हिसाबसे जले-हुए घरमें भी एक तरहका सौन्दर्य है। मगर घरको केवल चित्रके रूपमें देखनेसे ही काम नहीं चल जाता, उसमें रहना पड़ता है, लिहाजा कलाकार चाहे कुछ भी कहे, उसका पुनर्निर्माण अत्यावश्यक है। वैधव्यके विषयमें तुम दूर बैठे-बैठे जितनी चाहो कविताएँ लिखते रहो, किन्तु इतना तुम्हे याद रखना ही चाहिए कि उसमें एक आकांक्षापूर्ण मानव-हृदय अपनी विचित्र वेदना लिये-हुए वास करता है!"

मै समझता था कि नवीनको मै किसी भी तरह अपने दलमे नहीं खींच सकूंगा, इसीलिए उस दिन मै कुछ अतिरिक्त गरमीके साथ उससे बात कर रहा था। किन्तु सहसा देखा कि मेरे व्याख्यानके अन्तमें उसने एक गहरी सांस ली और मेरी सारी बाते मान लीं; मुझे और भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें कहनेका मौका ही नही दिया उसने।

करीब हफ्ते-भर बाद नवीनने आकर कहा—"तुम अगर मदद करो तो मै खुद विधवा-विवाह करनेको तैयार हूँ।"

मै इतना खुश हुआ कि उसे मैने छातीसे लगाकर आलिङ्गन करके गोदमें उठाकर परेशान कर डाला। मैने कहा—"जितना रुपया लगे मै दूंगा।"

तब नवीनने सारा किस्सा कह सुनाया।

मै समझ गया, उसकी प्रियतमा काल्पनिक नहीं है। कुछ दिनोंसे एक

विधवा नारीको वह दूरसे प्यार करता आ रहा है, और इस बातको वह बराबर छिपाये ही रहा। जिन मासिकपत्रोंमें नवीनकी, यानी मेरी, कविताएँ निकलती थी, वे पत्र बराबर यथास्थान पहुँचाये जाते थे। कविताएँ व्यर्थ नही गई। किसीसे विना मिले ही उसके चित्त-आकर्षणका यह उपाय मेरे मित्रने ही निकाला था।

किन्तु नवीनका कहना है कि उसने किसी बुरे इरादेसे या षड्यन्त्रके तौरपर ऐसी तरकीबसे काम किया हो, सो बात नही। यहाँ तक कि उसकी धारणा थी कि वह विधवा पढ़ना ही नहीं जानती। मासिकपत्र विधवाके भाईके नाम विनामूल्य भेजे जाते थे। और वह महज एक मनको तसल्ली देनेका पागलपन था। उसे ऐसा लगा कि 'देवताके लिए पुष्पाञ्जलि दे रहा हूं, वे जानें या न जानें, ग्रहण करें चाहे न करें।'

धीरे-धीरे विधवाके भाईके साथ भी नवीनने मित्रता कर ली थी। और इस विषयमे उसका कहना है कि इसमें भी उसका कोई इरादा नही था। बात सिर्फ इतनी ही थी कि जिसे प्यार किया जाता है उसके निकट-सम्बन्धियोंका साथ बहुत मधुर मालूम होता है।

अन्तमें भाई सख्त बीमार पड़ गया; और उस सिलसिलेमें बहनके साथ कैसे उसकी भेंट और जान-पहचान हो गई, उसकी भी एक लम्बी कथा है। कविके साथ कविताकी विषय-वस्तुका प्रत्यक्ष परिचय हो जानेके बाद कविताके सम्बन्धमें दोनोंमे बहुत-सी बातचीत हो चुकी है। और वह बातचीत केवल छपी-हुई कविताओंमें ही सीमाबद्ध थी, ऐसा नही कहा जा सकता।

फिलहाल मुझसे तर्कमें परास्त होकर नवीन उस विधवासे मिला है, और उससे विवाहका प्रस्ताव कर बैठा है। पहले तो वह किसी भी तरह राजी नहीं हुई। बादमें, नवीनने मेरी सारीकी सारी युक्तियोंका प्रयोग करके और उसके साथ अपनी आँखोंका दो-चार बूंद पानी मिलाकर उसे पूरी तरह हरा दिया है, और राजी कर लिया है। अब उसके अभिभावक यानी फूफा रुपया चाहते हैं।

मैंने कहा—"अभी लो।"

नवीनने कहा—"इसके सिवा, एक बात और भी है न, ब्याहके बाद शुरू-शुरूमें पिताजी पाँच-छै महीने जरूर खर्चा देना बन्द कर देंगे, तब तकके लिए तुम्हे खर्चका जुगाड़ कर देना होगा।"

मैने मुंहसे कुछ न कहकर तुरन्त चेक काट दिया। बोला—"अब उसका नाम तो बताओ। मेरे साथ जब कि कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं तो परिचय देनेमें डर कित बातका! मै तुम्हारी देह छूकर प्रतिज्ञा करता हूं, मैं उसके नाम कविता नहीं लिखूंगा; और अगर लिखूं भी तो उसके भाईके पास न भेजकर सीधी तुम्हारे ही पास भेजा करूंगा।"

नवीनने कहा—"अरे, इसके लिए मुझे डर नही। असलमें विधवा-विवाहकी लज्जासे वह मारे शरमके गड़ी जा रही है, इसीसे बेचारीने हाथ जोडकर मुझसे कहा है कि मै किसीसे कोई जिक्र न करूं। पर अब छिपाना व्यर्थ है। तुम्हारी ही पड़ोसिन है वह, उन्नीस नम्बरमें रहती है।"

मेरा हृत्पिण्ड अगर लोहेका 'बॉयलर' होता, तो उसी क्षण धक-से फट जाता। मैने पूछा—"विधवा-विवाहमे उसने सम्मति दे दी? विरोध नही किया?"

नवीनने हँसकर जवाब दिया—"नही।"

मैने कहा—"सिर्फ कविताएँ पढ़कर मुग्ध हो गई?"

नवीनने कहा—"क्यों, कविताएँ कोई बुरी थोड़ी ही थीं!"

मैने मन-ही-मन कहा—'धिक्!'

किसे धिक? उसे, या मुझे, या विधाताको? किन्तु धिक्।

आश्विन, १९५७]

शिक्षाका स्वात्मीकरण

हमारे देशकी आर्थिक दरिद्रता दुःखका विषय है ; और उससे भी बढ़कर लज्जाका विषय है हमारे देशकी शिक्षाका अकिंचित्करत्व। इस अकिंचित्करत्व (निस्सारता) की जड़में मौजूद है हमारे देशकी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्थाकी अस्वाभाविकता, और देशकी मिट्टीके साथ उस व्यवस्थाका विच्छेद। चित्त-विकासके जिस आयोजनको स्वभावतः ही सबसे बढकर अपना होना चाहिए था, वही सबसे बढकर पराया बना हुआ है,– उसके साथ हमारा रस्सीका योग हुआ है, नाड़ीका योग नहीं हुआ। इसकी व्यर्थताने हमारे स्वजातीय (राष्ट्रीय) इतिहासकी जडको खोखला कर दिया है, सारी जाति या राष्ट्रकी मानसिक परिवृद्धिको वह बढनेसे रोक रही है, उसे रोगी बना रही है। देशकी अनेक प्रकारकी अति-प्रयोजनीय विधि-व्यवस्थाओंपर अनात्मीयताका (परायेपनका) दु.सह भार उसे आप ही दबाये बैठा है ; कानूनी और अदालती सब प्रकारकी सरकारी कार्रवाइयाँ, जिनपर करोड़ों भारतवासियोंका भाग्य निर्भर है, वे हम करोड़ों भारतवासियोंके लिए बिलकुल दुर्बोध और दुर्गम हैं। हमारी भाषा, हमारी आर्थिक अवस्था और हमारी अनिवार्य अशिक्षाके साथ राष्ट्रीय शासन-विधिका बहुत बड़ा अन्तर होनेसे पद-पदपर जो दु.ख और अपव्यय होता है, उसकी कोई सीमा नही। फिर भी हम कह सकते हैं कि यह बाह्य है। परन्तु, शिक्षाका विषय देशके हृदयकी अपनी वस्तु न होना उससे भी बढ़कर मर्मान्तिक है। यह चेष्टा लैबोरेटरीमें रासायनिक प्रक्रियासे उत्पन्न किये-गये कृत्रिम अन्नसे देशका पेट भरनेके समान है ; बहुत कम पेटोंमें ही वह पहुँचती है, और उसे सम्पूर्णतः रक्तके रूपमें परिणत करनेकी शक्ति बहुत कम पाकयन्त्रोंमें होती है। देशके चित्तके साथ देशकी शिक्षाका यह व्यवधान, यह दूरी, और उस शिक्षाकी अपमानजनक स्वल्पताने दीर्घकाल तक मुझे वेदना पहुँचाई है ; क्योंकि यह मै निश्चित जानता हूँ कि 'पराश्रयता'की अपेक्षा कहीं भयंकर 'शिक्षामे परधर्म' है। इस विषयकी मैने बार-बार आलोचना की है ; और अब फिर पुनरुक्ति करनेमें

प्रवृत्त हो रहा हूँ , क्योंकि जहाँ दर्द होता है, वहीं बार-बार हाथ पडता है। सम्भव है, बहुतसे ऐसे हों जो मेरे इस प्रसंगमें पुनरुक्ति न पकड़ सकें, क्योंकि बहुतोंके कानो तक मेरी वह पुरानी बात पहुँच ही न पाई हो। और जिनके सामने पुनरुक्ति पकड़ाई दे जाय, आशा है, वे क्षमा करेंगे। क्योंकि आज मै दु खकी बात कहने आया हूँ, नई बात कहने नही आया। हमारे देशमें मलेरिया जैसे नित्य ही अपनी पुनरावृत्ति करता रहता है, हमारे देशके घातक दुःखोंकी भी ठीक वही दशा है। इस बातपर जिनका निश्चित विश्वास है कि मलेरिया अपरिहार्य नही है, उन्हीकी अजेय इच्छा और प्रबल अध्यवसायके सामने मलेरिया दैव-विहित दुर्घटनाके छद्मवेशको दूर करके विदा लेता है। आज मै 'अन्यश्रेणीके दु खोंको भी अपने पौरुष द्वारा दबाया जा सकता है' इस विश्वासकी दुहाई देनेकी कर्तव्यताको स्मरण करके अपने इस अपटु शरीरको लिये-हुए कुछ कहने आया हूँ।

किसी समय, एक अव्यवसायी भद्र-सन्तानने किसी अपनेसे भी ज्यादा अनाड़ी आदमीके मकान बनानेका भार अपने ऊपर लिया था। बढ़ियासे बढ़िया कीमती इमारती सामान उसके लिए इकट्ठा किया गया था और इमारतकी चुनाई भी बहुत मजबूत हुई थी, परन्तु काम खतम होनेपर मालूम हुआ कि सीढियोंकी बात कभी किसीने सोची तक नही। शनि महाराजके षड़यन्त्रसे अगर किसी राज्यमे इसी तरहकी पौर-व्यवस्था हो जहाँ दुमँजिले लोग दुमँजिलेमें ही रहेंगे, वहाँके लिए तो सीढियोंके बारेमे सोचना व्यर्थ ही है , परन्तु जिस मकानकी बात यहाँ मै कह रहा हूं, उस मकानमें नीचे रहनेवालोंको सीढ़ियोंके जरिये ऊपर चढनेकी आवश्यकता थी , क्योंकि यही उनकी उन्नतिका एकमात्र उपाय था।

इस देशमें, शिक्षाकी इमारतमे सीढ़ियोका संकल्प शुरूसे ही हमारे राज-मिस्त्रियोंके प्लैन या नक्शेमें आया ही नही। पहली मंजिलने दूसरी मंजिलको नि स्वार्थ धैर्यके साथ शिरोधार्य कर लिया है, उसका भार वहन किया है , किन्तु उससे कोई फ़ायदा नहीं उठाया , दाम चुकाये है, पर माल नहीं लिया।

मने अपने पहलेके लेखोंमें अपने देशके सीढ़ी-हीन शिक्षा-विधानके इस जबरदस्त अन्तरका उल्लेख किया है। उसने किसी पाठकके मनपर किसी तरहका उद्वेग उत्पन्न किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। उसका कारण यह है कि अभ्रभेदी अट्टालिका ही हमारे लिए अभ्यस्त चीज है, उसके गौरवसे हम अभिभूत हो रहे हैं; उसके हृदयके पास ऊपर-नीचेका सम्बन्ध स्थापित करनेवाली सीढ़ियोंका नियम एक भद्र नियम है, उसका हमें अभ्यास नहीं हुआ। इसीलिए, सम्भव है कि इसके पहले कहे-हुए हमारे आलोच्य विषयको सिर्फ सलाम ही मिला हो, पर आसान नहीं मिला। फिर भी, और एक बार कोशिश करनेमें दोष नहीं, क्योंकि भीतर-ही-भीतर कब देशके मनकी हवा बदल जायगी, बिना परीक्षा किये कुछ कहा नहीं जा सकता।

शिक्षाके सम्बन्धमें सबसे बढ़कर मानी-हुई और सबसे बढ़कर उपेक्षित बात यह है कि शिक्षा वस्तु जैव (जीव-धर्मी) है, यन्त्रिक नहीं है। इस विषयकी कार्य-पद्धतिका प्रसंग बादमें आ सकता है, किन्तु इसकी प्राण-क्रियाका प्रसंग सबसे पहले है। इन्क्युबेटर मशीन (कृत्रिम उपायसे अण्डे सेनेवाला यन्त्र) स्वाभाविक नहीं है, इसीलिए कौशल और अर्थ-व्ययकी तरफसे उसका विवरण सुननेमें बहुत लम्बा-चौड़ा होता है; परन्तु मुरगीका जीव-धर्मानुसार अंडा देना और सेना स्वाभाविक होनेसे उसमें ज्यादा बातें नहीं जोड़ी जा सकती, फिर भी वही अग्रगण्य है, और वही मुख्य है।

जीवित रहनेकी स्वाभाविक स्थिर इच्छा और साधन ही जीवित रहनेका प्राकृतिक लक्षण है। जिस समाजमें प्राणोंका बल है, वह समाज कायम रहनेकी गरजसे ही आत्मरक्षा-जनित दो सर्वप्रधान आवश्यकताओंकी तरफ अक्लान्त सजग रहता है — अन्न और शिक्षा, जीविका और विद्या। समाजके ऊपरी स्तर या मंजिलके लोग खा-पीकर परिपुष्ट रहेंगे, और नीचेकी मंजिलके लोग अधपेट खाकर या भूखो रहकर जी रहे हैं या मर रहे हैं — इस संबंधमें समाज रहेगा अचेतन या सोता हुआ! तो, इसे हम आधे अंगका पक्षाघात ही कहेंगे। यह लकवेकी बीमारी बर्बरताकी बीमारी है।

पश्चिम महादेशमें आज सर्वव्यापी अर्थ-संकटके साथ-साथ अन्न-संकट भी प्रबल हो रहा है। इस अभावको दूर करनेके लिए वहाँकी विद्वन्मण्डली और सरकार असाधारण उदारता दिखा रही है। इस तरहके उद्वेग और उद्योगसे हमारी बहु-सहिष्णु भूखी अभिज्ञता बिलकुल अपरिचित है। इस कार्यके लिए उड़े-बड़े अंकोंके कर्ज मंजूर करनेमें भी उनमें संकोच नहीं दिखाई देता। हमारे देशमे ऐसे आदमी बहुत कम हैं जिन्हें दोनों वक्त दो मुट्ठी खानेको मिलता हो ; बाकी बारह-आने लोग अध-पेट खाकर भाग्यको दोष देते हैं और जीविकाके कंजूस रास्तेसे हटकर मृत्युके उदार पथपर खिसक जानेमें देर नहीं करते। इससे जिस निर्जीवताकी सृष्टि हुई है, उसका लम्बा-चौड़ा नाप या परिमाण केवल मृत्यु-संख्याकी तालिकासे ही निरूपित नहीं हो सकता। निरुत्साह, अवसाद, अकर्मण्यता और रोगोंका प्राबल्य नापने या तौलनेका प्रत्यक्ष मानदण्ड अगर मौजूद होता, तो हम देखते कि इस देशके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक प्राणोंका व्यंग्य कर रही है मृत्यु ! यह अत्यन्त कुत्सित दृश्य है, अत्यन्त शोचनीय। कोई भी सभ्य देश मृत्युकी ऐसी सर्वनाशी नाट्य-लीलाको निश्चेष्ट-भावसे स्वीकार नहीं कर सकता, आज इसका प्रमाण भारतके बाहर नाना दिशाओंमे मिल रहा है।

शिक्षाके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात है। शिक्षाकी अभिषेचन-क्रिया समाजके ऊपरके स्तरोंको ही दो-एक इञ्च मात्र भिगो देगी और नीचेकी स्तर-परम्परा अपने नित्य-नीरस काठिन्यसे सुदूर-प्रसारित रेगिस्तानको क्षीण आवरणसे ढके रहेगी—ऐसी चित्तघाती गहरी मूर्खताको किसी भी सभ्य समाजने चुपचाप स्वीकार नहीं किया। हमारे जिस निर्मम भाग्यने भारतवर्षको ऐसा स्वीकार करनेके लिए बाध्य किया है, उसे सौ-सौ बार धिक्कार देता हूँ।

कोई-कोई ग्रह-उपग्रह ऐसे हैं जिनका एक-आधेके साथ अन्य-आधेका चिरस्थायी विच्छेद है, वह विच्छेद है प्रकाश और अन्धकारका विच्छेद। उनका आधा हिस्सा सूर्यकी तरफ है और आधा सूर्यसे विमुख। इसी तरह जिस समाजके एक अंशपर शिक्षाका प्रकाश पड़ता है और बाकीका बड़ा अंश शिक्षासे शून्य है वह समाज आत्म-विच्छेदके अभिशापसे अभिशप्त है।

वहाँ शिक्षित और अशिक्षितके बीचमें असूर्यम्पश्य अन्धकारका व्यवधान है। दो भिन्न-जातीय मनुष्योंकी अपेक्षा इनके चित्तकी भिन्नता और भी अधिक प्रबल है। एक ही नदीके एक किनारेका स्रोत भीतर-ही-भीतर दूसरे किनारेके स्रोतके विरुद्ध दिशामें चल रहा है, और दोनोंका यह परस्पर-विरुद्ध नजदीकपन ही उनकी दूरीको और भी गहराईके साथ प्रमाणित कर रहा है।

शिक्षाकी एकताके योगसे चित्तकी एकता-रक्षाको सभ्य-समाज मात्र ही अपरिहार्य समझता है। भारतके बाहर नाना स्थानोंमें मैंने भ्रमण किया है, प्राच्य और पाश्चात्य महादेशोंमें। मैंने देखा है, एशियाके नव-जागरणके युगमें सर्वत्र ही जनसाधारणमें शिक्षा-प्रचारका दायित्व बहुत ही आग्रहके साथ स्वीकृत हो रहा है। वर्तमान युगके साथ ही जो देश चित्त और वित्त (मन और धन) का आदान-प्रदान समझदारीके साथ नहीं कर सकेंगे, उन्हें बार-बार पीछे हटना पड़ेगा, और हटते-हटते कोनेमें पड़ जाना पड़ेगा – इस आशंकाका कारण दूर करनेके लिए किसी भी भद्र देशने अर्थाभावके ऐतराजको नही माना है। मै जब रूस गया था, तब वहाँ नये स्वराज-शासनको चले सिर्फ आठ ही वर्ष हुए थे। उसके प्रथम भागमें बहुत दिनों तक, विद्रोह-उपद्रवोंके कारण, देश शान्तिहीन था ; और आर्थिक हालत तो खराब थी ही। फिर भी, इतने कम समयके भीतर रूस सरीखे विराट राज्यमें सर्वसाधारणमें जिस अद्भुत तेजीके साथ शिक्षाका विस्तार हुआ है वह भाग्य-वंचित भारतवासियोंको तो असाध्य इन्द्रजाल ही मालूम होगा।

शिक्षाका ऐक्य-साधन राष्ट्रीय ऐक्य-साधनके मूलमे है, इस सहज बातको स्पष्टतया समझनेमें हमें देर लगी है, और इसका भी कारण हमारे अभ्यासका विकार ही है। एक दिन महात्मा गोखले जब सार्वजनिक अनिवार्य-शिक्षाके प्रचलनके लिए उद्योग कर रहे थे, तब सबसे ज्यादा बाधा उन्हें बंगालके ही किसी-किसी गण्यमान्य व्यक्तिने पहुँचाई थी। साथ ही राष्ट्रीय एकताकी आकांक्षा इस बंगालमें ही सबसे अधिक मुखरित थी। असलमें हमारा अनैक्यका अभ्यास इतनी गहराई तक पहुँच गया है कि 'शिक्षाके अनैक्यसे जकड़े रहनेपर भी राष्ट्रीय उन्नतिके मार्गपर आगे बढ़ते रहना सम्भव है' इस

कल्पनाको देशके मनसे कोई बाधा प्राप्त नहीं हुई। अभ्यास चिन्ता-धारामें कैसी जड़ता ला देता है, हमारे देशमें इसका और-एक दृष्टान्त घर-घरमें मौजूद है। आहारमें कुपथ्य हमारा दैनिक काम है, क्योंकि वह मुख-रोचक है। यह हमारे लिए इतना सहज-स्वभाविक हो गया है कि जब हम देहकी अधमरी दशाका विचार करते हैं तब डाक्टरकी बात सोचते है, दवाकी याद करते हैं, आब-हवा बदलनेकी सोचते हैं, मन्त्र-तन्त्रकी बात सोचते हैं, यहाँ तक कि विदेशी शासनपर भी सन्देह करते हैं, परन्तु पथ्यके सुधारकी बात कभी खयालमे ही नही आती। नावका लंगर रहता है मिट्टीमें धँसा-हुआ, वह तो दिखाई देता नहीं, और हम समझते हैं कि पाल फटा होनेकी वजहसे ही नाव उस पार नही पहुँच रही है!

मेरी बातके जवाबमें ऐसा तर्क उठ सकता है कि 'हमारे देशमे पहले भी समाज जीवित था, और आज भी एकदम मरा नहीं है; – उस जमानेमें भी क्या हमारा देश शिक्षा और अशिक्षाके जल और स्थलमें विभक्त नहीं था? उस समयकी विभिन्न चतुष्पाठी या संस्कृत पाठशालाओंमें न्याय और व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी जो दाँव-पेंच चला करते थे वह तो सिर्फ पण्डित-पहलवानोंके उस्तादी अखाड़ोंमें ही सीमित था, परन्तु उसके बाहर जो विशाल देश था वह भी क्या सर्वत्र उसी तरहके पहलवानी कायदेसे ताल ठोककर पैंतरे दिखलाता फिरता था? तब 'विद्या' नामधारी परिणत गजकी जो 'वप्र-क्रीडा' थी उस दिग्गज पण्डिताईने तो घर-घर अपनी सूँड नहीं फैलाई थी।' यह बात मैंने मान ली। विद्याका जो आडम्बर निरवच्छिन्न पाण्डित्य है, सभी देशोंमे वह हृदयके क्षेत्रसे दूर रहा है; पाश्चात्य देशोंमे भी स्थूल-पदक्षेपोंसे उसका चलन है, उसे कहते हैं 'पेडॉन्ट्री' यानी 'कोरी पण्डिताई'। हमारा कहना तो यह है कि इस देशमें किसी समय विद्याकी जो धारा साधनाके दुर्गम तुंग-शृंगसे निर्झरित होती थी उस एक ही धाराने संस्कृतिके रूपमें देशके समस्त स्तरों (श्रेणियों) को अभिषिक्त किया है। इसके लिए उसे यान्त्रिक नियमसे एजुकेशन-डिपार्टमेन्ट (शिक्षा-विभाग) का कारखाना नहीं खोलना पड़ा, शरीरमें जैसे प्राण-शक्तिकी प्रेरणासे मोटी धमनियोंकी रक्तधारा

छोटी-बडी नाना आयतनोंकी शिराओंके द्वारा समस्त अंग-प्रत्यंगोंमे प्रवाहित होती रहती है उसी तरह हमारे देशके सम्पूर्ण समाज-शरीरमें एक ही शिक्षा स्वाभाविक प्राणक्रियासे निरन्तर संचारित हुई है, उसका नाड़ी-रूपी बाहन कोई स्थूल था तो कोई बहुत ही सूक्ष्म ; किन्तु फिर भी वे नाड़ियाँ एक-कलेवरकी ही थी, और रक्त भी उसका अपना प्राण-पूर्ण रक्त था ।

अरण्य स्वयं जिस मिट्टीसे प्राण ग्रहण करके जीवित है उसी मिट्टीको वह खुद भी प्रतिदिन प्राणोंका उपादान पर्याप्त-रूपमें देता रहता है। उसे बराबर प्राणमय बनाये रखता है। ऊपरकी डालीपर वह जो फल देता है नीचेकी मिट्टीमें उसकी तैयारियाँ भी उसकी अपनी ही की-हुई है। अरण्यकी मिट्टी इसीलिए आरण्यिक बनी रहती है, नहीं तो, वह हो जाती विजातीय मरुभूमि। जिस भूमिमें वह उभिद्-खाद परिव्याप्त नही है वहाँ पेड़-पौधे शायद ही पैदा होते हैं ; और हो भी जायँ, तो वे उपवासके मारे टेढे-मेढे और मरे-से हो जाते हैं। हमारे समाजकी वनभूमिमें किसी जमानेमें उच्चशीर्ष वनस्पतिका दान नीचेकी भूमिपर नित्य ही बरसा करता था। आज देशमें जो पाश्चात्य शिक्षा चल रही है, मिट्टीको उसने बहुत ही कम दान दिया है, भूमिको वह अपने उपादानोसे उपजाऊ नही बना रही है। जापान आदि देशोके साथ हमारा यही लज्जाजनक और दु:खप्रद भेद है। हमारा देश अपनी शिक्षाकी भूमिका बनानेके विषयमें उदासीन है। यहाँ देशकी शिक्षा और देशका विशाल हृदय या मन एक दूसरेसे विच्छिन्न है। प्राचीन कालमें हमारे देशके बड़े-बडे शास्त्रज्ञ विद्वानोंके साथ निरक्षर ग्रामवासियोंकी मनःप्रकृतिका ऐसा वैपरीत्य (परस्पर विरोध) नही था। उस शास्त्रज्ञानके प्रति उनके मनमें अनुकूल अभिमुखता तैयार हो गई थी ; उस भोजमें उनका भी अर्द्ध-भोजन था नित्य ; और वह केवल प्राणसे ही नहीं, बल्कि उद्वृत्त (बचे-हुए) भोगके रूपमें।

परन्तु साइन्ससे बनी पाश्चात्य-विद्याके साथ हमारे देशके मनका योग नहीं हुआ ; जापानमें यह हो गया पचास वर्षके भीतर ही, इसीसे पाश्चात्य शिक्षाके क्षेत्रमें जापान स्वराजका अधिकारी हो गया। यह उसकी पास

की-हुई विद्या नहीं है, अपनाई हुई विद्या है। साधारण वर्गकी बात छोड़ दीजिये, साइन्सके डिग्री-धारी पण्डितोंको लीजिये, जिनकी संख्या इस देशमें काफी है और जिनके मनमे साइन्सकी जमीन कोमल है, उनमे भी हरएक बात झटपट विश्वास करनेमें असाधारण आग्रह है, जाली साइन्सका मन्त्र पढाकर अन्ध-संस्कारोंको वे साइन्सकी जातमें शामिल कर लेनेमें जरा भी नहीं हिचकिचाते। अर्थात्, शिक्षाकी नावमें हमने विलायती डाँड लगा लिये हैं, पतवार भी वहीकी है, देखनेमें भी वह अच्छी लगती है, परन्तु सारी नदीका स्रोत जो उलटी तरफ है, इसलिए नाव अपने-आप ही पीछे रह जाती है। आधुनिक समयमें वर्बर-देशकी सीमाके बाहर एकमात्र भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहाँ सैकड़ा-पीछे सिर्फ आठ-ही-दस आदमियोंका अक्षरोंसे परिचय है। ऐसे देशमें धूमधामके साथ विद्या-शिक्षाकी आलोचना करनेमें शर्म मालूम होती है। सिर्फ दस ही आदमी जिसकी प्रजा है, उसके राज्यकी चर्चा न करना ही अच्छा है। विश्वविद्यालय ऑक्सफोर्डमें है, कैम्ब्रिजमें है, लन्दनमें है। हमारे देशमें भी जगह-जगह हैं; परन्तु पूर्वोक्त विश्वविद्यालयोंके साथ इनके रूप-रंग और विशेषणोंका मेल देखकर हम समझ वैठते हैं कि ये परस्पर सवर्ण हैं। मानो ओटीन-क्रीम और पावडर लगा लेनेसे ही मेम-साहबोंके साथ सचमुच ही वर्णभेद दूर हो जाता हो! विश्वविद्यालय मानो अपनी इमारतोंकी दीवार और नियमावलीकी पक्की भीतोंके भीतर ही पर्याप्त हैं! ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज कहनेसे सिर्फ उतने ही का बोध नही होता, वल्कि उसके साथ-साथ सम्पूर्ण शिक्षित इङ्गलैण्डका ज्ञान होता है। यहींपर वे सत्य हैं, मरीचिका नहीं हैं। और हमारे विश्वविद्यालय सहसा ठहर गये हैं अपनी पक्की प्राचीरोंकी जड ही में। ठहर जो गये है, वह सिर्फ वर्तमानकी असमाप्तिके कारण नही, फिलहाल, उसरपर न आनेके कारण जो आदमी कदमें छोटा है और सिर भी जिसका नीचा है, उसके लिए पश्चात्ताप करनेकी जरूरत नहीं, किन्तु जिसकी प्रकृतिमे ही पूर्णरूपसे बढ़नेका जीवधर्म नही, उसे हमें कभी भी ग्रेनेडियर (योद्धा-विशेष) की जातिका नहीं समझ लेना चाहिए।

शुरूआतमें जिन लोगोंने इस देशमें आकर अपने राज-तख्तके साथ-साथ शिक्षा-व्यवस्थाकी नींव डाली थी, देखते हैं कि उनके भी उत्तराधिकारियोंने बाहरके असबाब तथा ईंट-लकड़ी और चूना-सुर्खीका पेटर्न (नमूना) दिखाकर हमें तथा स्वयं अपनेको बहलानेमें आनन्द माना है। कुछ समय पहलेकी बात है, एक दिन अखबारमें पढा कि अन्य किसी प्रदेशके राज्य-सचिवने विश्वविद्यालयकी नींव डालते समय कहा है कि 'जो लोग यह कहते हैं कि इमारतोंकी बहुलतासे हम शिक्षाकी पूँजी घटाते हैं, वे नासमझ हैं ; क्योंकि शिक्षा तो केवल ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, अच्छे दालानमें बैठकर पढ़ना-लिखना भी एक शिक्षा है।' अर्थात् क्लासके बड़े अध्यापककी अपेक्षा बड़ी दीवार अधिक ही है, कम नहीं। परन्तु जहाँ हमें यह समाचार मिलता है कि अर्थाभावके कारण ताड़पत्रसे ज्यादा कीमती तलवार बनाना यहाँके लिए असम्भव है, वहाँ हमारी शिकायत तो यह है कि फिर उसकी मियान इस्पातसे क्यों बनाई जाती है ? शिक्षा तो है ताडपत्रकी, फिर उसके भवन इस्पातके क्यों ? इससे तो उस इस्पातको गलाकर एक काम-चलाऊ ढंगकी छुरी बना देनेमें भी सान्त्वनाकी कुछ-कुछ आशा रहती है।

असल बात यह है कि प्राच्य देशमें मूल्य-निर्णयका जो आदर्श है उसके अनुसार हम अमृत (विद्या) के साथ उपकरणोंकी होड करानेकी जरूरत नहीं समझते। विद्या वस्तु नहीं अमृत है, ईंट-लकड़ियों (साधनों) के द्वारा उसे नापनेकी बात हमारे दिमागमें भी नहीं आती। आन्तरिक सत्यकी दिशामें जो बड़ा है, बाह्य रूपकी दिशामें उसका आयोजन – हमारे विचारसे न भी हो, तो भी – काम चल सकता है। कम-से-कम प्राचीनकालसे अब तक हमारे देशके प्रचीन विश्वविद्यालय आज भी मौजूद हैं वाराणसीमें। वे अत्यन्त सत्य हैं, बिलकुल स्वाभाविक हैं, फिर भी बड़े रूपमें दिखाई नहीं देते। इस देशकी सनातन संस्कृतिका मूल उत्स (सोत) वही है, किन्तु उसके साथ न तो बड़ी-बडी इमारतें हैं और न अति-जटिल व्ययसाध्य व्यवस्था-प्रणाली ही। वहाँ विद्या-दानका चिरन्तन व्रत देशके अन्तरंगमें अलिखित शिलालेखोंमें लिखा हुआ है। विद्या-दानकी पद्धति, उसकी निःस्वार्थ निष्ठा, उसका सौजन्य,

उसकी सरलता, गुरु-शिष्योंका अकृत्रिम सहृयताका सम्बन्ध सब तरहके आडम्बरोंकी उपेक्षा करता आया है, क्योंकि सत्य ही उसका परिचय है। प्राच्य देशोंके कारीगर जिस ढंगसे अत्यन्त साधारण हथियारसे अति-असाधारण शिल्प-द्रव्य बनाया करते हैं, पाश्चात्य बुद्धि उसकी कल्पना तक नहीं कर सकती। निपुणता भीतरकी वस्तु है, उसका वाहन प्राण और मनमें ही हो सकता है। बाहरका स्थूल उपादान जब अत्यधिक हो जाता है तो असल चीज दब जाती है।

दुर्भाग्यवश अपनी इस सहज बातको हम ही आजकल पाश्चात्य देशोंसे कम समझते हैं। गरीब जब धनीसे मन-ही-मन ईर्षा करने लगता है तब इसी तरहका बुद्धि-विकार हो जाता है। किसी अनुष्ठानमें जब हम पाश्चात्य देशोका अनुकरण करते हैं तब ईंट-काठकी बहुलता और यन्त्रके चक्र-उपचक्रोंसे अपनेको और दूसरोंको बहलाकर गौरव अनुभव करना सहज होता है। असल चीजमें कंजूसी करनेसे इन्ही बातोंकी ज्यादा जरूरत पड़ती है। असलसे नकलकी सजधज स्वभावत ही बहुलताकी ओर बढ़ी रहती है। नित्यप्रति हम देखते हैं कि हमने अपने देशमें जीवन-समस्याका जो सहज समाधान किया था उससे बराबर हम स्खलित ही होते जा रहे हैं। उसका फल यह हुआ कि हमारी अवस्था तो रह गई पहले ही जैसी, यहाँ तक कि उससे भी कई डिग्री नीचे उतर गई, और अपने तई मिजाज हम उधार ले आये अन्य देशोंसे, जहाँ समारोहके साथ खजानेका कोई खास बैर नहीं!

जरा विचार तो कीजिये, हमारे इस देशमें अनेकानेक रोगोंसे जर्जरित जनसाधारणके आरोग्य-साधनके लिए सूने राज-कोषकी दुहाई देकर खर्च घटाया जाता है, देश-भरमे फैली-हुई अति-विराट मूर्खताकी कालिमाको ठीक तरहसे पोंछनेके लिए खर्च नही जुटता, अर्थात् जिन अभावोंके कारण देश भीतर और बाहरसे मृत्युके पैरों-तले तड़प रहा है उसके प्रतिकारका अतिक्षीण उपाय भी दिवालिया देशके ही सामन है, और उसपर तुर्रा यह कि इस देशकी शासन-व्यवस्थामें जो अनापशनाप खर्च हुआ करता है वह गरीब देशका-सा कतई नही! उसके खर्चकी सीमा स्वयं पाश्चात्य धनी देशोंसे भी

बहुत दूर आगे बढ़ गई है। यहाँ तक कि विद्या-विभागका सारा बाहरी ठाठ बनाये रखनेके लिए जितना व्यय होता है उतना विद्या परोसनेमें नहीं होता, भोज्य वस्तुसे कही अधिक खर्च किया जाता है पत्तला और सकोरोंमें ! अर्थात् पेड़के पत्तोंको देखने-लायक सुन्दर आकार देनेके लिए उसके फल लानेवाले रसपर भी हाथ मारा जाता है, उसमें भी खींचातानी मच जाती है। अच्छा, यह भी सही , परन्तु वाहरके इस अभावकी अपेक्षा उसका भीतरका मर्मगत जबरदस्त अभाव सबसे बढकर दुश्चिन्ताका विषय है। मै उसी बातको कहना चाहता हूं। वह अभाव है शिक्षाके यथायोग्य आधारका अभाव।

आजकलकी अस्त्र-चिकित्सामें अंग-प्रत्यंगोंको बाहरसे जोड देनेका कौशल क्रमश उन्नति करता जा रहा है ; किन्तु बाहरी जोड़ लगानेवाली जो चीज है वह अगर सारे कलेवरके साथ प्राणोंके मेलसे मिलित न हुई, तो उसे सुचिकित्सा नहीं कहा जा सकता। उसके बैण्डेज-बन्धनका उत्तरोत्तर काफी फूलना देख कर स्वयं रोगीके मनमें भी गर्व और तृप्ति हो सकती है, किन्तु मरते-हुए प्राण-पुरुषके लिए उसमे सान्त्वना नहीं है। शिक्षाके विषयमें यह बात मैने पहले भी कही है। कहा है, बाहरसे संग्रह की-गई शिक्षाको सम्पूर्ण देश जब तक अपना नही सकेगा तब तक उसके बाह्य उपकरणोंकी लम्बाई-चौडाईके नापको हिसाबके खातेमें लाभके खानेमें रखना हुंडी लिखकर उधार लिये-हुए रुपयेको मूलधन-हीन व्यवसायमें मुनाफा समझकर आनन्द माननेके समान ही होगा। शिक्षाको अपनानेमे सर्वप्रधान सहायक है अपनी भाषा। शिक्षाका सारा भोजन उसी भाषाके रसायनसे हमारा अपना भोजन होता है। पक्षियोंके बच्चे शुरूसे ही कीड़े-मकोड़े खाकर बडे होते हैं ; किसी मानव-समाजमें सहसा यदि किसी पक्षि-महाराजका एकाधिपत्य हो जाय, तो क्या कभी ऐसी बात कही जा सकती है कि उस राज-खाद्यके खानेसे ही मनुष्य-प्रजाके पंख पैदा हो जायेंगे !

शिक्षासे मातृभाषा ही माका दूध है। संसारमे यह सर्वजन-स्वीकृत बिलकुल सहज बात मैने बहुत दिन पहले भी एक बार कही थी , और आज भी उसे मे दुहराऊँगा। उस दिन अंग्रेजी शिक्षाके मन्त्रमुग्ध कर्णकुहरोंमें जो

अश्राव्य मालूम हुआ था, आज भी अगर वह लक्ष्यभ्रष्ट हो, तो आशा करता हूँ कि इस बातको बार-बार दुहरानेवाला आदमी आपको बार-बार मिला करेगा।

अपनी भाषामे व्यापक-रूपसे शिक्षाकी नीव डालनेका आग्रह स्वाभवत ही समाजके मनमे काम करता रहता है, यह उसके स्वस्थ चित्तका लक्षण है। राममनोहर रायके मित्र पादरी एडम साहबने यहाँकी प्राथमिक शिक्षाकी जो रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसमें देखते हैं कि बंगाल-विहारमें एक लाखसे ऊपर पाठशालाएँ थी ; और लगभग प्रत्येक ग्राममे ही जन-साधारणको कम-से-कम न्यूनतम शिक्षा देनेकी व्यवस्थ थी। इसके सिवा, प्राय उस समयके धनी मात्रके घर उनके दालान या ठाकुर-द्वारेमें समाजिक कर्तव्यके अंग-रूपमे पाठशालाएँ हुआ करती थी , गुरु महाशयको वृत्ति और रहनेको स्थान भी उन्हीकी तरफसे मिलता था। मेरा प्रथम अक्षर-परिचय हमारे ही मकानके दालानमे पडोसी सहपाठियोंके साथ हुआ था। मुझे याद है, उस दालानकी निभृत ख्याति-हीनताको छोड़कर जब मेरे दो सतीर्थ (सहपाठी) आत्मीयोने घोड़ागाड़ीपर रवाना होकर सरकारी विद्यालयमें प्रवेशाधिकार प्राप्त किया तब मानहानिके दुःसह दु खसे मैने भी आँसू वहाये थे , और हमारे गुरु महाशयने आश्चर्यजनक भविष्य-दृष्टिके प्रभावसे कहा था कि वहाँसे व्यर्थप्रयास होकर जब फिर तुम्हें यहाँ लौटना पडेगा तब तुम्हें और भी अधिक आँसू बहाने पडेंगे। उस समय प्रथम शिक्षाके लिए 'शिशु-शिक्षा' आदि जो पाठ्य पुस्तकें थी, मुझे याद है, अवकाशके समय भी बार-बार मैने उनके पन्ने उलटे हैं। आजकलके लड़कोंके सामने उसका प्रत्यक्ष परिचय देनेमें संकोच होगा ; किन्तु उन अत्यन्त गरीब अक्षरोंमें छपी-हुई पुस्तकोंके पन्नोंमें सम्पूर्ण देशको शिक्षा-परिवेषणकी (शिक्षा बाँटने या परोसनेकी) स्वाभाविक सदिच्छा सुरक्षित थी, यह महान् गौरव आजकलकी किसी भी शिशु-पाठ्य पुस्तकमें नहीं मिलेगा। जिस तरह नदी-नाले और नहर-बम्बोंका पानी आज सूख गया है उसी तरह राजाके अनादरसे सर्वसाधारणकी निरक्षरता दूर करनेकी स्वादेशिक व्यवस्था भी अध-मरी हो चली है।

देशमे विद्या-शिक्षाके जो सरकारी कारखाने हैं, उनके पहियोंमे मामूली-सा

रद्दो-बदल करनेके लिए बहुत ज्यादा हथौड़े पीटनेकी जरूरत पड़ती है। यह बहुत ही कड़े हाथका काम है। ऐसा कड़ा हाथ था आशुतोष मुखोपाध्याय महाशयका। हमारे यहाँके लड़के अंगरेजी-विद्यामें कितने ही पक्के क्यों न हो जायँ, फिर भी शिक्षाको पूरी करनेके लिए उन्हें अपनी मातृभाषा सीखनी ही होगी। मुखोपाध्याय महाशयने बंगालके विश्वविद्यालयको धक्के दे-देकर इतनी दूर तक तो आगे बढ़ाया था। सम्भव है, इस मार्गसे उन्होंने उसकी चलत्‌शक्तिका सूत्रपात किया हो, और वे जीवित रहते तो शायद इसके पहिये और भी आगे बढते रहते। और हो सकता है कि उनकी चालनाका संकेत विश्वविद्यालयकी परामर्श-सभाके दफ्तरमें अब भी कहीं परिणत होनेकी तरफ उन्मुख पड़ा हो।

फिर भी, आज मै जो उद्वेग प्रकट कर रहा हूँ वह इसीलिए कि विश्वविद्यालयकी गाड़ी बहुत ही भारी है और हमारी मातृभाषाका मार्ग अभी कच्चा मार्ग है। खासकर इस समस्याका समाधान दुरूह होनेके कारण कहीं इसे ऐसे किसी अति-अस्पष्ट भविष्यकी गोदमें न ढकेल दिया जाय जो असम्भाविताका नामान्तर ही हो, इसी बातका हमें डर है। हमारी गति मन्दाक्रान्ता है, परन्तु हमारी अवस्था सब्र करने लायक नही है। इसीसे मै कहता हूँ, परिपूर्ण सुअवसरके लिए सुदीर्घ काल तक प्रतीक्षा न करके कम अर्ज यानी छोटे पैमानेका काम शुरू कर देना अच्छा है, जैसे पौधा लगाया जाता है उसी तरह, अर्थात् उसमें समग्र वृक्षका आदर्श है, बढते बढ़ते दिनो-दिन वह आदर्श सम्पूर्ण हो जायगा। जब कोई छोटा बच्चा किसी प्रौढ व्यक्तिके बगलमें खडा होता है, तो वह अपनी समग्रताका सम्पूर्ण संकेत लेकर ही खड़ा होता है। ऐसा नही कि किसी कोठरीमे एक-दो वर्ष तक लड़केके सिर्फ पैर ही बनाये जा रहे हो, और दूसरीमे हाथकी कुहनी तक लगा लगा हो। इतनी दूरी तक सृष्टिकर्ताकी सतर्कता नही पहुंची। सृष्टिकी भूमिकामे भी, अपरिणतिके होते हुए भी, उसमे समग्रता होती ही है।

इसी तरह देशी विश्वविद्यालयोंकी मै एक सजीव समग्र शिशु-मूर्ति देखना चाहता हूँ। वह मूर्ति कारखानोमें बनी खण्ड-खण्ड विभागोकी क्रमिक

योजना नहीं होगी, पूरी उम्रवाले विद्यालयके पास आकर ही वह खड़ी होगी बाल-विद्यालयके रूपमें। उसकी बालक-मूर्तिमें ही हम देखेंगे उसकी विजयी मूर्ति, और उसके ललाटपर देखेंगे राजासन-अधिकारका प्रथम टीका।

विद्यालयके कामके जो जानकार है, वे जानते हैं कि छात्रोंका एक दल स्वभावत: ही भाषा-शिक्षामें अपटु होता है। अंगरेजी भाषामें अधिकार होनेपर अगर वे किसी तरह मैट्रिककी ड्योढ़ी पार भी कर जाते हैं, तो भी, ऊपरकी सीढ़ियाँ चढ़ते समय उनकी बधिया बैठ जाती है। फिर उन्हें मार-मारकर भी उठाया नहीं जा सकता।

उनकी इस दुर्गतिके बहुतसे कारण हैं। एक तो जिस लड़केकी मातृभाषा बंगला (या हिन्दी अथवा भारतकी अन्य कोई भी भाषा) है, उसके लिए अंगरेजी भाषाके समान और कोई बला ही नहीं हो सकती। वह तो विलायती तलवारकी मियानमें देशी खड्ग भरनेकी कसरत-सी मालूम होती है। दूसरे, शुरूआतमें अच्छे शिक्षकके पास अच्छे नियमोंसे अंग्रेजी सीखनेका मौका बहुत ही कम लड़कोंको मिलता है, गरीबोंके लड़कोंको तो मिलता ही नही। यही कारण है कि अधिकांश स्थलोंमे विशल्यकरणीका* परिचय न होनेके कारण ही छात्रोंको अंगरेजीकी पूरी-की-पूरी किताब कंठस्थ करनेके सिवा और-कोई उपाय ही नहीं रह जाता। इस तरहकी त्रेतायुगीय शूरवीरताकी आजकल कितने लड़कोंसे आशा की सकती है?

सिर्फ इसी कारणसे ही क्या वे विद्या-मन्दिरसे अंडमनको चालान कर देनेके काबिल हैं? इंग्लैण्डमें किसी जमानेमें चोरी अपराधका दण्ड था फाँसी, परन्तु यह तो उससे भी कड़ा कानून है, यह तो चोरी न कर सकनेके कारण ही फाँसी है! बिना समझे किताबें रटकर परीक्षा पास करना क्या चोरी करके उत्तीर्ण होना नहीं है? परीक्षागारमें छिपाकर पुस्तक ले

---

* रामायणमें, लक्ष्मणको जब 'शक्ति' लगी थी तब उन्हें आरोग्य करनेके लिए महावीर हनुमानको 'विशल्यकरणी' संजीवनी-बूटी लानेके लिए भेजा गया था। उसका परिचय न होनेके कारण हनुमान पहाड़-का-पहाड़ उठा लाये थे। —अनुवादक

जाना ही चोरी है, और मगजमें भर ले जानेको क्या कहेंगे ? प्रश्नके उत्तरमें जो पूरी किताबका कोई टुकड़ा ज्योंका त्यों रखकर पास करते हैं, वे ही तो खेवटको चुराई-हुई कौड़ी पार-कराईमें देकर उस पार पहुँचते हैं।

यह भी सही, चाहे किसी भी तरह वे पार हों, मुझे कोई शिकायत नहीं करना। फिर भी, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि काफी तादादमें जो सब अभागे पार नहीं हो सके, उनके लिए माना कि हवड़ेका पुल ही बीचसे टूट गया है, मगर किसी भी तरहकी सरकारी नाव भी क्या उनके भाग्यमें नहीं बदी है ? कोई लाइसेन्स-शुदा नाव ही सही, कम-से-कम हाथसे खेई जानेवाली देशी नाव ही सही।

अन्य स्वाधीन देशोंके साथ हमारा एक जबरदस्त अन्तर है। वहाँ, शिक्षाकी पूर्णताके लिए जो-कोई उसकी जरूरत समझते हैं, वे ही विदेशी भाषा सीखते हैं। परन्तु विद्याके लिए जितना सीखना आवश्यक है, उससे ज्यादा वे न भी सीखें तो उनका काम चल जाता है। क्योंकि उनके देशका सारा काम ही अपनी भाषामें होता है। जो हमपर शासन करते हैं वे हमारी भाषा सीखने, कम-से-कम पर्याप्त रूपमें सीखनेके लिए बाध्य नहीं हैं। पर्वत-राज हिलनेके नहीं, लिहाजा मनुष्यको ही जरूरतकी गरजसे पर्वतकी ओर जाना पड़ता है। अंग्रेजी भाषा सिर्फ हमें जाननी ही होगी सो बात नहीं, उसका व्यवहार भी करना होगा। वह व्यवहार विदेशी आदर्शके अनुसार जितना ही निर्दोष होगा, उसीके नामपर स्वदेशियों और अधिकारियोंके दरबारमें हमारा समादर होगा। मैं एक अंगरेज मजिस्ट्रेटको जानता हूँ, वे आसानीसे बंगला पढ सकते थे। बंगला-साहित्यमें उसकी रुचिकी मैं प्रशंसा करूँगा ही। कारण, रवीन्द्रनाथकी रचना वे पढ़ते थे और पढकर आनन्द पाते थे। एक बार ग्रामवासियोंकी एक सभामें वे उपस्थित थे। ग्राम-हितैषी बंगाली वक्ताओंमें से जिनको जो कुछ कहना था, सब कह चुकनेपर मजिस्ट्रेटको ऐसा मालूम हुआ कि गाँवके लोगोंको बंगलामें कुछ कहना उनका भी कर्तव्य है। किसी प्रकारसे दस मिनट तक उन्होंने अपना कर्तव्य पालन किया था। गाँवके लोगोंने घर लौटकर अपने

घरवालोंसे कहा कि 'वे अभी हाल साहबका अंग्रेजी लेक्चर सुनकर आ रहे हैं !' पराई भाषा व्यवहारके विषयमे विदेशियोसे चाहे जसी भी त्रुटि हो जाय, उससे उनका असम्मान नही होता। मजिस्ट्रेट खुद ही जानते थे कि उनकी बंगला भाषा ऐसी नही है कि गौडके लोग आनन्दपूर्वक उसका अच्छी तरह अर्थ समझ सकें। इसपर वे खुद हँसे भी थे। हम होते तो किसी भी तरह हँस नही सकते थे ; पृथिवीसे प्रार्थना करते कि 'फट पडो धरणी, तुममे समा जायँ।' अंगरेजीके विषयमे हमारी विदेशिताकी कैफियत अपने और पराये किसी भी समाजमें मंजूर नही होगी। एक दिन मैने विश्वविख्यात तत्त्वज्ञानी अयकेनका अंगरेजी भाषण सुना था। आशा है इस बातको कोई अत्युक्ति न समझेंगे कि अंगरेजी सुनकर मै उसे समझ सकता हूँ बशर्ते कि वह अंगरेजी ही हो। किन्तु अयकेनकी अंगरेजी सुनकर मै गोरखधन्धेमें पड गया था। इस बारेमे अयकेनकी कोई अवज्ञा नही कर सका था। परन्तु यही दशा अगर हमारी होती तो क्या होता, उसकी कल्पना करनेसे हमारे कान तक सुर्ख हो उठते हैं। 'बाबू-इंग्लिश' नामक एक अत्यन्त अवज्ञासूचक शब्द अंगरेजीमें है, परन्तु 'इंग्लिश-बंगला' उससे कई-गुनी विकृत होनेपर भी उसे हम अनिवार्य मान लेते हैं, उसकी अवज्ञा नही कर सकते। हममें से किसीकी अंगरेजीमें कोई त्रुटि होनेपर वह देशी भाइयोंके लिए जितना हास्यप्रद होता है उतना कोई प्रहसन भी न होता होगा। उस हँसीमे पराधीनताका कलंक ही काला होकर दिखाई देता है। जब तक हमारी यह दशा बनी रहेगी, तब तक हमारे शिक्षाभिमानियोको सिर्फ काफी अंगरेजी ही नहीं, बल्कि अतिरिक्त अंगरेजी सीखनी होगी। उसमे जितना अतिरिक्त या जरूरतसे ज्यादा समय लगता है, उतना समय हमारी यथोचित शिक्षाके हिसाबमेंसे कट जाता है। खैर, इसे भी जाने दीजिए, जब तक हमें अत्यावश्यककी अपेक्षा अतिरिक्तको ही बड़ा मानकर चलना होगा तब तक अंगरेजी-भाषाके ठोंक-पीटकर बनाये-गये विश्वविद्यालयका विजातीय भार, आदिसे अन्त तक, ढोना हमारे लिए अनिवार्य ही है। क्योंकि हमारे अन्दर इतना साहस ही नही कि हम मान लें कि अच्छी तरह

मातृभाषा सीखनेपर ही हमें अंगरेजी सीखनेमें सहायता मिल सकती है। गरज बड़ी बला है और जरूरी भी, इसीसे मन कहता है कि 'क्या जानें, क्या हो!' -मुझे जैसे अभिभावक मिले थे, वैसे अभिभावक हमारे देशमें ज्यादा नहीं मिल सकते, इसीसे अधिक आशा करनेसे कोई लाभ नहीं। मातृभाषाके विश्वविद्यालयका एकेश्वरताका अधिकार आज सहन नहीं होगा। नई स्वाधीनताकी माँगको पुरानी अधीनताके सेफगार्ड्सका भरोसा दिये बिना सब-कुछकी लुटिया डूब सकती है, इस बातका हमें डर है। इसीलिए कहता हूँ कि हमारे विश्वविद्यालयोंके भीतरके दालानोंमें विद्याके भोजका जो आयोजन चल रहा है, उसका सारा सामान बना है विलायती मसालोंसे, विलायती डेगचियोंमें, तो फिर आहार भी चलने दो विलायती आसन और विलायती पात्रोंमें ; उसके लिए जी-जान लड़ाकर हम जितनी कीमत दे सकते हैं, उससे भूरि भोजनकी आशा नहीं की जा सकती। जिन्हें कार्ड मिल गया है वे भीतर ही बैठें ; और जो लोग कोलाहल सुनकर बाहरके आँगनमें दौड़े आये हैं उनके लिए पत्तलें क्यो न डाल दी जायँ? टेबिलें नही लगाई गई तो न सही, केलेके पत्ते ही डाल दें।

हमारे देशमें उच्च-शिक्षाको हमेशाके लिए अथवा बहुत लम्बे समय तक पराम्नभोजी और पर-घर-निवासी होकर रहना ही होगा, क्योंकि हमारी भाषामें पाठ्य पुस्तकें नही हैं – इस कठोर तर्कके छेड़नेपर, किसी जमानेमें वह शास्त्रार्थ या वितंडावादके भँवरमें ही घूमता रह सकता था, तब दूर-देशसे लानेके सिवा पासके मुहल्लेसे दृष्टान्त इकट्ठे करके उस उपद्रवको शान्त नहीं किया जा सकता था ; परन्तु आज हाथके पास ही मौका मिल गया है।

भारतवर्षके अन्यान्य विश्वविद्यालयोंकी तुलनामें दक्षिण - हैदराबादका विश्वविद्यालय उमरमें छोटा है, इसीलिए शायद उसमें साहस अधिक है ; इसके सिवा शायद वहाँ इस बातका माना जाना भी सहज हो गया है कि शिक्षा-विधानमें कजूंसी करनेके समान अपनेको धोखा देना और कुछ भी नहीं हो सकता। उस विश्वविद्यालयमें अविचलित निष्ठाकी सहायतासे, आदिसे अन्त तक, उर्दू भाषाका चलन हो गया है। उसीकी प्रबल ताड़नासे

उस भाषामें पाठ्य पुस्तकोंकी रचना लगभग परिपूर्ण हो चली है। इमारत भी बन गई, सीढ़ियाँ भी बन गईं, अब लोगोंका नीचेसे ऊपर जाना-आना जारी है। हो सकता है कि वहाँ यथेष्ठ सुअवसर और स्वाधीनता थी, परन्तु फिर भी, चारों ओर प्रचलित मत और अभ्यासकी दुस्तर बाधाओंको पार करके वे जो ऐसे महान सकल्पको अपने मनमें और कार्य-क्षेत्रमें स्थान दे सके, इसके लिए सर अकबर हैदरीके साहसको धन्य कहूँगा। बिना दुविधाके ज्ञान-साधनाकी दुर्गमताको अपनी मातृभाषाके क्षेत्रमें सम-भूमि बनाकर उर्दू-भाषियोंका उन्होंने जो महान उपकार किया है, उसका दृष्टान्त अगर हमारे मनसे संशयको दूर कर सके, और शिक्षा संस्कृतिकी देरसे तय-होनेवाली लम्बी गतिको सहज और शीघ्र तय-करनेवाली बना सके, तो किसी दिन हमारे विश्वविद्यालय अन्य समस्त सभ्य देशोंके साथ समान रूपसे एक पक्तिमे खडे होकर गौरव प्राप्त कर सकते है। नहीं तो, ध्वनिके साथ प्रतिध्वनि किस बिरतेपर एक ही मूल्य पानेका दावा कर सकती है? वनस्पतिकी शाखाओंमें जो बाँदा (पराश्रया लता) लटका करती है वह वनस्पतिकी बराबरी नहीं कर सकती।

विदेशसे यन्त्र खरीदकर जहाँ लाकर हम उनका व्यवहार करते हैं वहाँ उनका इस्तेमाल करते समय हमें डरते-डरते हरूफ-ब-हरूफ पोथीसे मिलाकर चलना पड़ता है, परन्तु सजीव पौधोंके लिए यह बात नहीं, उनकी आत्म-चालना और आत्म-परिवर्द्धनाका (उगने और बढनेका) तत्त्व अधिकतर भीतर-ही-भीतर काम करता रहता है। यन्त्र हमारे स्वायत्त (अधिकारमें) हो सकते हैं, किन्तु उनमें हमारी स्वानुवर्तिता (अनुगामिता) नहीं हो सकती। स्वाधीन-परिचालनाके क्षेत्रमें जहाँ नेशनल-कालेज बनाये गये हैं, हिन्दू-विश्वविद्यालयकी स्थापनामें जहाँ अपरिमित धन व्यय हुआ है, वहाँ भी हम साँचेके उपासक, साँचेकी मुट्ठीमेंसे अपनी स्वतन्त्रताको किसी भी तरह छुड़ानेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं। वहाँ भी हम उसे काट-छाँटकर सिर्फ अंगरेजी युनिवर्सिटीके नापकी सिर्फ तंग कुड़ती ही बना रहे हों सो बात नहीं, बल्कि अंगरेजोंकी जमीनसे, उसकी भाषा-समेत, उपाड लाकर अपने देशके चित्तके

क्षेत्रको फावड़े और कुल्हाड़ीसे क्षत-विक्षत करके विरुद्ध-भूमिमें उसे जमानेका भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं ; इससे, न तो उसकी जड़ चारों तरफ फैल रही है और न गहराई तक पहुँचकर जम ही रही है।

मातृ-भाषाकी दुहाई देकर जिस शिक्षाकी आलोचना मै बार-बार देशके सामने ला रहा हूँ, उसकी जड़में है मेरी व्यक्तिगत अभिज्ञता। जब मै बालक था, आश्चर्यकी बात तो यह है कि उस समय अविमिश्र या विशुद्ध बंगला-भाषामे शिक्षा देनेकी एक सरकारी व्यवस्था थी, उस समय भी जिन स्कूलोंका रास्ता कलकत्ता-युनिवर्सिटीके प्रवेश-द्वारकी ओर मुँह बाये पड़ा था, जो छात्रोको याद करा रहे थे, 'he is up' 'वे हैं ऊपर', जो अंगरेजी I सर्वनामकी व्याख्या कंठस्थ कर रहे थे, 'I by itself I' उनकी पुकारका जवाब दे रहे थे उन परिवारोंके छात्र जो भद्र-समाजमें उच्च पदवीका अभिमान कर सकते थे। इन्हीकी दूर-बगलमें संकुचितभावसे खड़ा था प्रथमोक्त शिक्षा-विभाग, छात्रवृत्ति-शुदा छात्रोके लिए। वे कनिष्ठ अधिकारी थे, उनकी अन्तिम सद्गति थी नॉर्मल स्कूल नामधारी नतमस्तक विद्यालयमे। उनकी जीविकाका अन्तिम लक्ष्य था मातृ-भाषाकी पाठशालाओंमें थोड़ेमें सन्तुष्ट देशी पंडिताईका व्यवसाय। मेरे अभिभावकोने उस नार्मल-स्कूलके ड्योढ़ी-विभागमें ही मुझे दाखिल कराया था। मैने बिलकुल बंगला-भाषाके रास्तेसे ही सीखा था भूगोल, इतिहास, गणित, कुछ-कुछ प्राकृत विज्ञान, और वह व्याकरण जिसके अनुशासनमें बंगला-भाषा संस्कृत-भाषाके आभिजात्यके अनुकरणमें अपनी साधु-भाषाका कौलीन्य घोषित करती थी। इस शिक्षाका आदर्श और परिमाण, विद्याके लिहाजसे, उस समयके मैट्रिकसे किसी कदर कम नही था। मेरी बारह वर्षकी उमर तक अंगरेजी-वर्जित यही शिक्षा मेरे लिए चालू थी। उसके बाद अंगरेजी स्कूलमें भरती होनेके बाद ही तुरन्त मै स्कूल-मास्टरके शासनका पगहा तोड़कर भाग खड़ा हुआ ; और अब तक लापता हूँ।

इसका नतीजा यह हुआ कि बचपनमें ही बंगला-भाषाके भण्डारमें मेरा प्रवेश बेरोक-टोक हो गया। उस भण्डारमें उपकरण कितना ही कम क्यों

न हो, शिशु-हृदयके पोषण और तोषणके लिए काफी था। मनको दीर्घकाल तक विदेशी भाषाकी चढ़ाईके रास्तेमें लंगडा-लंगडाकर नही चढना पड़ा, प्रतिदिन सीखनेके साथ समझनेका घातक सिर-फुडौवल न होनेके कारण मुझे विद्यालय-रूपी अस्पतालमे आदमी नहीं बनना पडा। यहाँ तक कि उस कच्ची उमरमें, जब कि मुझे 'मेघनाथ-वध' पढना पड़ा है तब, सिर्फ एक दिन मेरे बायें गालपर एक करारी चपत लगी थी, वही मेरे लिए एकमात्र अविस्मरणीय अपघात था, फिर, जहाँ तक मुझे याद है, उस महाकाव्यके अन्तिम सर्ग तक मेरे कानोंपर शिक्षकका हस्तक्षेप नही हुआ, अथवा यों कहना चाहिए कि शायद ही कभी ऐसा हुआ हो।

कृतज्ञताके और भी कारण हैं। मनके विचार और भाव शब्दोंमें प्रकट करनेकी साधना शिक्षाका एक प्रधान अंग है। स्वस्थ प्राण या मनका लक्षण ही है भीतर और बाहरकी देने-लेनेकी प्रक्रियाका सामंजस्य-साधन। विदेशी भाषा ही अगर भाव-प्रकाशका प्रधान अवलम्बन हो, तो वह एक तरहसे नकली चेहरेके भीतरसे भाव-प्रकाशका अभ्यास ही साबित होता है। नकली चेहरा लगाकर किया-गया अभिनय मैंने देखा है, उसमें साँचेमे ढले भावको एक बँधी-हुई सीमाके भीतर अविचल करके दिखाया जाता है, उसके बाहर जानेकी स्वाधीनता उसमें नहीं दी जाती। विदेशी भाषाके आवरणकी ओटमें भाव प्रकट करनेकी चर्चा उसी जातिकी है। एक दिन मधुसूदन दत्त सरीखे अंगरेजी विद्याके असाधारण विद्वान और बंकिम बाबू सरीखे विजातीय विद्यालयके सुयोग्य विद्यार्थीने इस नकली चेहरेके भीतरसे भाव बतानेकी कोशिश की थी; किन्तु अन्तमें हताश होकर उन्हें भी वह फाड फेंकना पड़ा।

रचना करनेकी साधना इतनी सहज नही है। उस साधनाको पराई भाषाके बोझसे दबा देनेसे हमेशाके लिए उसके पंगु हो जानेकी आशंका रहती है। विदेशी भाषाके बोझसे दबकर वामन (बौना) हुए मन हमारे देशमे अवश्य ही काफीसे ज्यादा हैं। पहलेसे ही यदि वे मातृ-भाषाके स्वाभाविक प्रयोगसे पनपे होते, तो वे मन क्या हो सकते थे, इस बातका अन्दाज न कर सकनेके कारण मै उसकी तुलना भी नहीं कर सकता।

कुछ भी हो, भाग्य-बलसे मै एक अख्यात नॉर्मल-स्कूलमें भरती हुआ था, इसीसे मुझे कच्ची उमरमें रचना करने और कुश्ती लड़नेको एक ही विषय नहीं बनाना पड़ा ; अर्थात् मेरा चलना और सड़क कूटना एकसाथ नहीं था। अपनी भाषामे विचारोंको प्रस्फुटित करने और ठीक ढंगसे सजानेका आनन्द मुझे प्रारम्भसे ही मिला है। इसीसे मैने समझा है कि मातृभाषामें रचनाका अभ्यास सहज-स्वाभाविक हो जानेपर, यथासमय अन्य किसी भी भाषापर अधिकार करके, साहसपूर्वक उसका व्यवहार करनेमें कलम रुकती नहीं , फिर अंगरेजीकी अप्रचलित पुरानी वाक्यावलीको सावधानीके साथ सीं-सींकर गुदड़ी नहीं बनानी पड़ती। स्कूलसे भागकर जो अवकाश मिला, उसमें जितनी अंगरेजी मैने राह-चलते संग्रह की है, उतनी ही अंगरेजीको मै अपनी खुशीसे इस्तेमाल किया करता हूँ ; इसका मुख्य कारण यही है कि शिशुकालसे ही मै बंगला-भाषामें रचना करनेमे अभ्यस्त रहा। कम-से-कम ग्यारह वर्षकी उमर तक बंगला भाषामें मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। राज-सम्मानसे गर्वित रूप-कथाकी प्यारी रानीने उसे गोशालाके कोनेमें मुंह बन्द करके नहीं रखा। मेरी अंगरेजी शिक्षामें उस आदिम दैन्यके रहनेपर भी परिमित उपकरणको लेकर ही मेरी चित्त-वृत्ति बराबर अपने गृहिणीपनके जोरसे अंगरेजी-दाँ भद्र-समाजमें अपनी इज्जत बचाती चली आ रही है ; जो-कुछ फटा-फूटा और नाप-जोखमें कम था, उसे किसी तरह ढक कर घूम-फिर सकी है। मै निश्चित जानता हूँ कि इसका कारण यही है कि बचपन ही से मेरे मनकी परिणति हुई है बिना किसी तरहकी मिलावटके खालिस मातृ-भाषामें। उस भोजनमे खाद्य-वस्तुके साथ-साथ यथेष्ट खाद्य-प्राण थे, जिस खाद्य-प्राणमें सृष्टिकर्ताने अपना जादू-मन्त्र दिया था।

अन्तमे मेरा निवेदन यह है कि आज कोई भगीरथ हमारी मातृभाषामे शिक्षा-धाराको विश्व-विद्याके समुद्र तक ले चलें। देशके हजार-हजार मन मूर्खताके अभिशापसे प्राणहीन हुए पड़े हैं , इस संजीवनी-धाराके स्पर्शसे वे जी उठेंगे, संसारके सामने हमारी उपेक्षित मातृ-भाषाकी लज्जा दूर हो जायगी,

और विद्या-वितरणके अन्नसत्र (सदावर्त-शाला) स्वदेशकी नित्य-सम्पदा होकर हमारे आतिथ्यके गौरवकी रक्षा करेंगे।

मालूम नही, शायद कोई अभिज्ञ व्यक्ति कह बैठें कि 'यह बात कोई कामकी बात नहीं, यह कवि-कल्पना है।' होने दो कल्पना, मै तो कहूँगा कि आज तक कामकी बातसे सिर्फ सीने-जोडने या थिगरा लगानेका ही काम चला है। सृष्टि हुई है तो केवल कल्पनाके बलपर ही।

पाठकोंसे

अपने अनुवाद और प्रकाशनके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेकी मेरी इच्छा नहीं थी। मुझे आशा थी कि पाठक स्वयं ही हिन्दीमें रवीन्द्रनाथका रथ चला ले जायेंगे। किन्तु आज कुछ कहनेकी जरूरत आ पड़ी है। और बिना कहे पाठक जान भी कैसे सकते हैं कि यह प्रकाशन 'श्रेयान्सि बहु विघ्नानि'का कितना बड़ा दृष्टान्त बना हुआ है। पहले तो, जिस दिनसे इस ग्रन्थमालाका प्रकाशन शुरू किया, उसी दिनसे मेरा प्रिय मानस-पुत्र (दौहित्र) रवीन्द्रकुमार बीमार पड़ा; और लगातार सवा दो साल तक मुझे उसकी तीमारदारी करते-हुए, और यह जानते-हुए कि 'श्मशानकी राख'की सेवा कर रहा हूं, उसके पास बैठकर ही अनुवाद करते रहना पड़ा। दूसरे, अपना सर्वस्व बेचकर अत्यन्त कम मूलधनसे इसका प्रकाशन शुरू करना पड़ा। इससे पद-पदपर आर्थिक कठिनाइयाँ बनी ही रहती है। भीतर शोक और बाहर हाथ तंग होनेपर भी मे रुक नही सकता; कारण, मै इस कार्यको अपना अन्तिम-जीवन-धर्म समझकर कर रहा हूं।

रवीन्द्रनाथने एक जगह लिखा है, 'दरिद्रका मनोरथ मनके बाहर अचल हो जाता है', किन्तु मेरे मनने इसके विपरीत दुस्साहस किया; रवीन्द्र-साहित्य-प्रकाशन-रथको उसने चलाया ही; और सोलहवें भाग तक चला लाया। किन्तु अब वह कुछ थकान-सी महसूस कर रहा है।

अब, एकमात्र पाठकोंका ही सहारा है। पाठक यदि इसका अधिकसे अधिक मौखिक प्रचार करें तो मुझे पूरी आशा है कि रवीन्द्र-साहित्य भारतके प्रत्येक विद्यालय, महाविद्यालय, संग्रहालय और साधारण पाठागार तक पहुंच सकता है। मेरे पास इतनी अर्थ-संगति नही कि मैं विज्ञापन कर सकूं; ऋण और ब्याजके बोझसे ही मैं दबा जा रहा हूं। आशा है, मेरे बोझको हलका करनेमें पाठक और पुस्तकालय यथासाध्य सहारा देंगे।

—धन्यकुमार जैन